।। हरिः ॐ ।।

ध्येय और ध्यान

श्रीकेशवानंदजी
श्रीधूनीवाले दादा
साँईखेडा-खंडवा

श्रीछोटे दादा
(खंडवा)

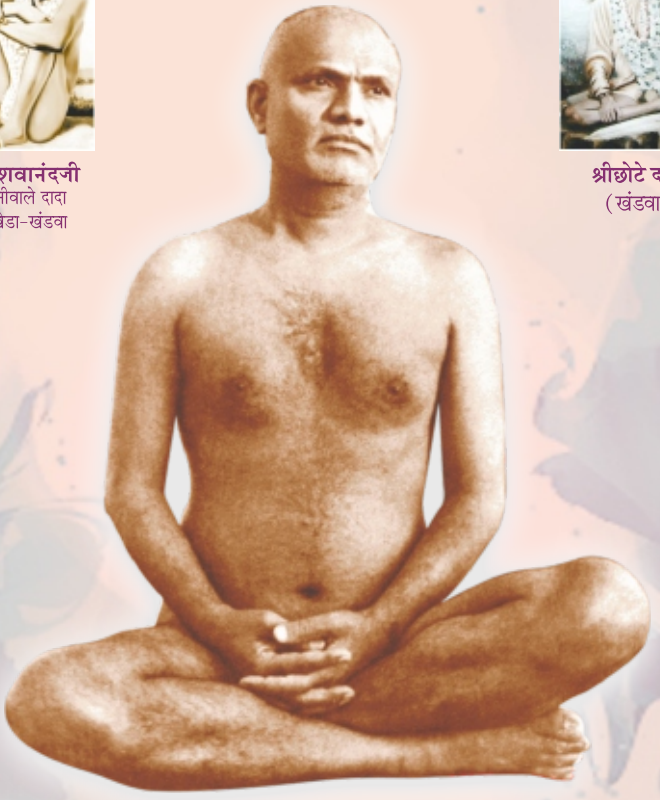

पूज्य श्रीमोटा

श्रीसाँईबाबा-शिरडी

श्रीबरफानी दादा
कायाकल्पी

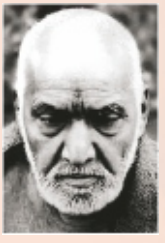

श्रीउपासनीबाबा-साकुरी

श्रीस्वामी समर्थ अक्कलकोट

हरिः ॐ आश्रम, सुरत - प्रकाशन

।। हरि:ॐ ।।

ध्येय और ध्यान

पूज्य श्रीमोटा

: संकलन :
डॉ. रमेशभाई भट्ट (Ph. D.)

: अनुवाद :
भास्कर भट्ट
रजनीभाई बर्मावाला 'हरि:ॐ'

।। हरि:ॐ ।।

प्रकाशक :
(पू. श्रीमोटा), हरि:ॐ आश्रम,
कुरुक्षेत्र महादेव मंदिर के पास,
जहाँगीरपुरा, सुरत - ३९५००५
फोन : ०२६१-२७६५५६४ । २७७१०४६ । +९१ ८७५८०२६८११
e-mail: hariommota1@gmail.com
website: www.hariommota.org

© हरि:ॐ आश्रम, सुरत

आवृत्ति	वर्ष	प्रतियाँ
पहली	अप्रिल २०१६	१०००
पृष्ठ :	१२ + ७० = ८२	
मूल्य :	रु. ..... /-	

प्राप्तिस्थान :
हरि:ॐ आश्रम, सुरत - ३९५००५
हरि:ॐ आश्रम, पो.बो.नं. - ७४, नडियाद-३८७००१

अक्षरांकन/मुद्रक :
प्रोम प्रिन्टर्स,
गांधी आर्केड, अे-४, उद्योगनगर, नवसारी - ३९६ ४४५
फोन नं.: +९१ २६३७ २५५७७१ । २४६९६२
e-mail: promserve@gmail.com

।। हरि:ॐ ।।

निवेदन

पू. श्रीमोटा के पुस्तकों से ध्यान के बारे में यह संकलन 'ध्येय और ध्यान' प्रकाशित करते आनंद होता है। श्रेयार्थी के अभ्यास में मददकर्ता और मार्गदर्शक बन रहे ऐसी दृष्टि से डॉ. रमेशभाई भट्ट (Ph. D.) ने यह संकलन किया है। यह पुस्तक श्रेयार्थी के लिए अभ्यासपोथी के रूप में पहचाना गया है, वह यथार्थ है।

इस पुस्तक का अनुवाद श्री भास्कर भट्ट (इन्दौर) ने पू. श्रीमोटा के प्रति अत्यंत प्रेमभाव से बहुत ही किफायत दाम से किया है। उनका हम बहुत बहुत आभार मानते हैं।

इस पुस्तक का मुद्रण चतुरंगी मुखपृष्ठ के साथ मे. प्रोम प्रिन्टर्स, नवसारी के मालिक श्री अजीतभाई गांधी ने पू. श्रीमोटा के प्रति अपने गहरे प्रेमभाव से किया है। इस लिए हम उनके बहुत बहुत आभारी हैं।

इस प्रकाशन को जिज्ञासु, श्रेयार्थी अपने जीवनविकास के मार्गदर्शन के लिए जरूरी उपयोग में लेकर जीवन सफल बनाये ऐसी शुभेच्छा व्यक्त करते हैं।

दि. १५/०४/२०१६
रामनवमी

ट्रस्टीमंडल
हरि:ॐ आश्रम, सुरत

।। हरिः ॐ ।।

श्रेयार्थी के लिए अभ्यासपोथी

प्रस्तावना

पूज्य श्रीमोटा का प्रकट हुआ विपुल पत्रसाहित्य आध्यात्मिक जीवन के प्रति गति करने की आतुरता रखनेवाले श्रेयार्थी के लिए प्रेरक और मार्गदर्शक है। उससे भी विशेष उसका मूल्य है। आपश्री के सभी पुस्तक सच्चे अर्थ में *प्रेक्टिस बुक्स* (अभ्यासपोथी) हैं। आध्यात्मिक साहित्य पढ़ने से एवम् उसका हार्द समझने के लिए मंथन करने से, ऐसे साहित्य के कर्ता के हृदय के साथ हमारे मन, बुद्धि स्पर्श प्राप्त करते हैं। उस प्रकार वह समय सत्संग में बीत जाता है। किन्तु सिर्फ इतना ही साधन करने से जीवन की ऊर्ध्व गति नहीं होती है। किन्तु उनके द्वारा बताये गये साधन के नियमित अभ्यास से धीरे-धीरे होनेवाली जीवन की ऊर्ध्व गति का अनुभव होता है।

पूज्य श्रीमोटा ने श्रेयार्थी के लिए ही लिखा है और भागवती हेतु से ऐसा लेखन प्रकट होने दिया है। पूज्य श्रीमोटा द्वारा बताई गई साधनापद्धति समझने के लिए कई शब्दों के अर्थ स्पष्ट करना चाहिए।

१) श्रेयार्थी अर्थात् अपने श्रेय के लिए आतुरता रखनेवाला। **श्रेय यानी कल्याण। कल्याण यानी आत्मा का अनुभव।** आत्मा के अनुभव के लक्षण और स्वभाव से पहचान सकते हैं। आत्मा का लक्षण आंतरिक शांति, आत्मा का स्वभाव आनंद। भावार्थ कि **आंतरिक शांति** (मन, बुद्धि और वृत्ति की शांति) **तथा हृदय में अकारण दिव्य आनंद का अनुभव हो, वह स्थिति आत्मस्थिति के रूप में पहचानी जाती है।**

२) साधना के बारे में हमारे में बहुत अधूरी और अस्पष्ट समझ प्रचलित है। पूज्य श्रीमोटा ने बताया है कि साध्य की स्पष्टता के बिना साधना नहीं हो सकती है। इसलिए आपश्री ने जीवन के ध्येय के बारे में स्पष्ट होने के लिए बार-बार समझाया है। श्रेयार्थी को किसका अनुभव करना है ? उसका साध्य क्या है ? उसके जीवन का ध्येय क्या है ? यह स्पष्ट कर के, वह ध्येय प्राप्त हो, उस प्रकार सभी क्रिया के प्रति सभान रहने पर खास जोर दिया है।

इससे साध्य या तो ध्येय को साकार करने के लिए जिसका भी आश्रय लेवे उसे ''साधना'' कहेंगे। उसमें जप, स्मरण, प्रार्थना, निवेदन, भजन, कीर्तन,

ध्यान, त्राटक इत्यादि का समावेश होता है। अपने जीवन का ध्येय स्पष्ट होने के बाद ही, उसके प्रति संपूर्ण सभान होकर तथा रहकर जिस साधन का अभ्यास नियमित हुआ करे, उस क्रिया को साधना मान सकते हैं सही। सिर्फ यही साधना है, वह भी अधूरा अर्थ है।

३) पूज्य श्रीमोटा ने जीवन के अमुक ही हिस्से के पर्याप्त क्रिया में साधना को मर्यादित नहीं किया है। आपश्री ने साधना को जीवन की प्रत्येक क्रिया के साथ जुड़ने की रीति बताई है। जिससे साधनक्रिया के दरमियान ही आंतरिक शुद्धि और शक्ति जागृत हो, उसकी कर्म में प्रतिष्ठा हो तो ही उस शक्ति का अनुभव हृदय में गहरे उतरते अनुभव हो सकता है।

मिले हुए कर्म में आंतरिक शक्ति को प्रतिष्ठित करने की पद्धति के प्रति श्रेयार्थी गाफिल रहता है और स्वयं साधक है ऐसा ख्याल रखता है, उसमें कैसा सूक्ष्म भ्रम और दंभ रहे हुए हैं, उसका स्पष्ट दर्शन पूज्य श्रीमोटा ने करवाया है।

इस पर से श्रेयार्थी को साधना की प्रक्रिया को इस प्रकार से संक्षिप्त में स्मरण में दृढ़ करना चाहिए।

साध्य-साधन-(१) साधना-साधक-(२) साधना।

इसमें (१) साधना यानी स्वभाव-प्रकृति के अनुरूप हो वैसे साधन का अभ्यास। (२) साधना यानी साधन + अभ्यास = साधनाभ्यास से प्रकट होती—सामने आती—शक्ति का जीवनव्यवहार में विनियोग करने के लिए संपूर्ण जागृति और पुरुषार्थ।

ऐसी जागृति के लिए आंतरिक मनबुद्धि में कड़ा परिश्रम, मंथन, संग्राम और यथायोग्य निर्णय के लिए अनिवार्य ऐसे विवेक का उपयोग करने की उलझन भी अनुभव होगी। ऐसे वक्त पर शुद्धि प्राप्त कर रहे हुए अंत:करण की गतिविधि के प्रति संपूर्ण जाग्रत रहते हुए भी दिशा न सूझे, तब प्रार्थना इत्यादि साधन का उपयोग भी गुरु की करुणा से सूझता है। यों जिसका समग्र जीवन स्वयं द्वारा निश्चित किये हुए ध्येय की ओर गति करता हुआ अनुभव हो और विकास के लक्षणों से प्रमाणित होता जाय वैसे-वैसे ''आत्मा'' को परख सकते हैं।

हम आत्मा के बारे में जाने वह जरूरी है, किन्तु जब साधन के अभ्यास से आत्मा को समझे यानी कि परखे वह मार्गसूचक स्तंभ समान है। अंत में तो

आत्मा को भोगना है अर्थात् कि हमारा स्वरूप वह आत्मा है और आत्मस्वरूप वह आनंदरूप है। ऐसे अनुभव की ओर गति होती जाय तो साधना फलने की दिशा की ओर है ऐसा प्रमाणित होगा।

पूज्य श्रीमोटा ने इससे ही श्रेयार्थी को ''ध्येय की स्पष्टता'' और क्रियामात्र के ''हेतु की सभानता'' के लिए बारबार कहा है। पूज्य श्रीमोटा ने नामस्मरण, प्रार्थना, भजन, कीर्तन, आत्मनिवेदन इत्यादि साधना के अभ्यास की रीति और उन साधनों का यथायोग्य फिर भी विवेकपूर्वक का संकलन करने का भी समझाया है।

आपश्री ने ध्यान और त्राटक के बारे में लिखा है जरूर, किन्तु इन साधनों के बारे में आपश्री ने बारबार लिखा नहीं है। सिर्फ औसतन् श्रेयार्थी को योग्य हो उतने ही प्रमाण में लिखा है। फिर, समझे बिना और ध्येय की स्पष्टता बिना इन साधनों का अभ्यास हो, वह भी योग्य नहीं है ऐसा भी सूचन किया है। क्योंकि ध्यान के बारे में तो समाज में बहुत अस्पष्टताएँ फैली हुई हैं। ''आजकल तो जो भी सब आँखें बंद कर के ध्यान करते होते हैं, ऐसी मान्यता में फँस गये हैं।'' ऐसी एक टिप्पणी पूज्य श्रीमोटा ने की है। इससे निमित्तयोग से ध्यान के बारे में लिखने का हुआ, तब पूज्य श्रीमोटा ने अत्यंत स्पष्टता से ध्यान का अर्थ, उसकी पूर्वतैयारी, उस क्रिया की रीति, ध्यान दरमियान होनेवाले अनुभव इत्यादि की पूरी समझ देकर श्रेयार्थी को योग्य दिशा की तरफ प्रेरित किया है।

पूज्य श्रीमोटा ने संक्षिप्त किन्तु विस्तृत अर्थ बतानेवाली व्याख्या देते हुए कहा था, **''ध्यान वह क्रिया नहीं, किन्तु अवस्था है, स्थिति है।''** ''**ध्यान यानी एकाग्रता**'' ये सूत्र चिंतन-मनन करने योग्य है। श्रेयार्थी किसका ध्यान करता है ? तो उसका उत्तर है कि ''ध्येय का ध्यान करता है।'' इससे ध्यान का उपक्रम प्रारंभ इस प्रकार समझना। ध्येय-ध्यान-ध्याता। ये तीनों एकरूप हैं। **ध्येय का ध्यान धारण करे वही ध्याता है। जब जीवन का ध्येय सतत ध्यान में रहा करता है, वह ध्यान अवस्थारूप बनता है। ध्याता का यानी कि ध्यान करनेवाले का ऐसा लक्ष रहा करे वह जागृति है।**

पूज्य श्रीमोटा ने ध्यान की पूर्व तैयारी के लिए हरएक प्रकार के काम में से फुर्सत पाकर शक्य उतना निश्चित रह सके ऐसी योजना करनी चाहिए ऐसा बताया है। यदि जीवन को उन्नत करने की गरज और रस हो तो ऐसी पूर्वतैयारी

हो सकती है। उसके बाद समय और स्थल निश्चित करना चाहिए। दक्षिणाभिमुख या पूर्वाभिमुख की स्थिति रखने का सूचन किया है। फिर मलशुद्धि की अनिवार्यता बताई है।

आपश्री ने ध्यान के लिए सुखासन का सूचन किया है। **शरीर की स्थिति बैठने के लिए अनुकूलतावाली न हो तो सोते-सोते भी ध्यान में जा सकते हैं। अर्थात् श्रेयार्थी को शरीर स्थिर रखने में जो स्थिति अनुकूल लगती हो वैसी व्यवस्था करनी चाहिए। ध्यान दरमियान शरीर जरा भी तंग न बने या रहे ऐसी स्थिति में स्थिर रहना चाहिए।**

पूज्य श्रीमोटा ने ध्यान के अनेक प्रकार हैं ऐसा सूचन किया है। इससे श्रेयार्थी अपने एकाग्र होने और लीन होने के लिए जो प्रकार अनुकूल हो, उसे ले सकता है। ध्यान के प्रकारों में निराकार का ध्यान उत्तम बताया है।

ध्यान के लिए उत्तम केंद्र हृदय है। सूक्ष्म हृदय सीने के मध्य भाग से थोड़ा दाहिनी ओर है।

ध्यान के लिए शरीर स्थिर रहे ऐसी सुखद स्थिति में बैठकर आँखें बंद कर के जप करने का और प्रार्थना करने का कहा है।

कृपागंगा तेरी नीरव करना मेरा मन, प्रभु या *कृपागंगा तेरी, सतत उतरो मेरे पर प्रभो!* वैसी प्रार्थना करते रहना। जप और प्रार्थना करते-करते वह दोनों अपनेआप बंद हो और निश्चित किये हुए केंद्र पर लक्ष रहे वैसा होने देना।

ध्यान के लिए समयअवधि निश्चित करना और उतना समय तो दृढ़ ही रहना। शरीर दर्द करे या विचार कैसे भी भागे तो भी निश्चित समय पहले ध्यान में से उठना नहीं।

ध्यान दरमियान बीच में जप या प्रार्थना कुछ नहीं होना चाहिए। ध्यान के लिए एक ही लक्ष रखने के पुरुषार्थ में परिश्रम करने से, ध्यान के आरंभ के पूर्व की हुई प्रार्थना से ''कृपागंगा'' अपनी रहस्यमयी शक्ति से श्रेयार्थी को सहायरूप होती है। श्रेयार्थी को पुरुषार्थ और कृपा के ऐसे जुड़वाँ का धुँधला-धुँधला अनुभव होता है। ऐसा अनुभव साधना के अभ्यास में गति लाने के लिए रस, लगन, उमंग और तत्परता उत्पन्न करता है।

जो उमंग और तत्परता बढ़ती है, उसका उपयोग उस ध्यान से उत्पन्न होनेवाले परिणाम प्राप्त करने की वृत्ति बढ़ाने में न जाय वह श्रेयार्थी को खास

ध्यान रखना है। ध्यान दरमियान मन के विचार, बुद्धि के तर्क, दलील, युक्ति-प्रयुक्ति से अकुलाना नहीं है। बुद्धि की युक्ति-प्रयुक्ति तो वृत्तिओं के कोमल, सुंदर और मनपसंद भोग को भी तैयार करती है। इससे ध्यान दरमियान ''ध्याता'' तो सिर्फ उसके ''ध्येय'' को ही जानता है। अंदर से जो सब उछलता है, वह मन, बुद्धि और प्राण की शुद्धि के लिए होनेवाली प्रक्रिया का परिणाम है। अच्छा और बुरा ऐसे भेद किये बिना, पसंद-नापसंद को बीच में आने दिये बिना, अपने स्वयं को अपराधी या अधम माने बिना यह सब तटस्थ भाव से ''देखते रहना'' है। इस प्रकार देखने की क्रिया से तटस्थता विकसित होती है। उसमें से एक प्रकार की शक्ति उत्पन्न होती है। यह सब ''देखनेवाला'' वैसे तो ''आत्मा'' है, किन्तु उसके पूरे गुणधर्मवाला आत्मा नहीं है। जब ''तटस्थता'' संपूर्ण एकाग्रतावाली और केंद्रितता के लक्षणवाली हो और ध्यान के समय सिवा की समयअवधि दरमियान ऐसी तटस्थता का उपयोग रहा करे वह बहुत जरूरी है। हमारे आसपास होनेवाली घटनाएँ तथा उससे हमारे अंत:करण में जन्म लेती प्रतिक्रियाओं के प्रति हम से कितना तटस्थ रहा जाता है, उतना ही श्रेयार्थी को जाँचते रहना है।

पूज्य श्रीमोटा ने ध्यान के अभ्यास के लिए बताई हुई यह पद्धति अत्यंत स्पष्ट और सीमाचिह्नदर्शक है। इस पुस्तक में अनेक बार श्रेयार्थी को इस बारे में समझाया है और उसमें आनेवाले विघ्नों के प्रति भी सावधान किया है।

इस साधन का उपयोग करनेवाला श्रेयार्थी श्वासोच्छ्वास पर दृष्टि स्थिर रखने का प्रकार अपनावे तो ध्यान के अन्य प्रकारो में यह प्रकार सरल धीरे-धीरे सहज हो जाय ऐसा है। श्वासोच्छ्वास निराकार है। श्वासोच्छ्वास का अनुभव होता है, किन्तु दिखता नहीं है। उसका आनाजाना सहज है। उसमें प्रयत्न संभव नहीं है एवं ही श्वासोच्छ्वास की होनेवाली क्रिया के लिए अहंकार होना भी संभव नहीं है। श्रेयार्थी को इस प्रकार के ध्यान के लिए श्वास-उच्छ्वास की अवधि के लिए या उसे रोकने के लिए प्रयत्न नहीं करना है। श्वासोच्छ्वास सहज रीति से चलता है, उस ओर दृष्टि स्थिर करने का पुरुषार्थ होने पर कृपाशक्ति का अपनेआप सहयोग होता है और नियमित लंबी अवधि के अभ्यास के बाद श्वासोच्छ्वास और नाड़ी की गति शांत होते अनुभव होती है। मन धीरे-धीरे शांत हो रहा है, उसका यह चिह्न है।

मन शांत होते वह स्थिर होगा और एकाग्रता का अनुभव होगा। ऐसी एकाग्रतावाला मन ''चुप'' होने की स्थिति में आयेगा। पूज्य श्रीमोटा ने मन को चुप करने की अवस्था का आदर्श दिया है। ध्यान के साथ श्रेयार्थी के लिए मौन-एकांत का सेवन बहुत जरूरी है, क्योंकि वह बहुत सहायक है। हमारी दृष्टि और वाणी द्वारा बहुत ही मूल्यवान ओजस नष्ट हो जाता है। जितने प्रमाण में ऐसा घटाव रुके उतने ही प्रमाण में श्रेयार्थी को अपने साधना-अभ्यास में गति का अनुभव होगा।

पूज्य श्रीमोटा ने ''साधनामर्म'' में संक्षेप में जीवनध्येय बताया है। ''प्रभुचिंतन के सिवा सर्व आग्रह छोड़ो। नम्रता विकसित करे, शून्य होने का ध्येय रखे।'' (साधनामर्म नं. ५) इसमें प्रभु ही मात्र चिंतनीय हैं। सब कुछ उसकी सत्ता के नीचे यानी कि प्रभु के ''होनेपन'' के कारण ही हो रहा है और चल रहा है। ''कोई कहीं किसीका कर्ता नहीं है।'' ऐसी प्रभुचिंतन की निरंतरता प्रकट होने पर अन्य आग्रह अपनेआप फीके पड़ते जायेंगे। आग्रह अहंकार का लक्षण है। मनबुद्धि अहंकार करते हैं। यों आग्रह (आग्रह, हठाग्रह, पूर्वग्रह, मताग्रह और सत्याग्रह इत्यादि) बिदा होते-होते अहंकार का जोर कम होने पर मनबुद्धि की शुद्धि होती है। किन्तु अहंकार तो अनंत सिरवाला है। इसलिए जीवन में-संसार में अत्यंत नम्रता विकसित करने का अभ्यास होना चाहिए। **नम्र होना यानी दबकर-झुक जाना या झेंप जाना ऐसा अर्थ श्रेयार्थी को नहीं करना है, किन्तु सर्वशक्तिमान मात्र प्रभु ही है, ऐसी आंतरिक दृढ़तावाले अभिगम के प्राकृतिक विकृत अवरोधों के सामने नम्र भाव से अडिग रहना है।** और भगवान का जय निश्चित है, ऐसी श्रद्धा दृढ़ और गहरी उतारने की है। ''मैं'' या ''मैं-पन'' जैसा कुछ नहीं है। इसलिए मान, अपमान, स्वमान तक का समर्पण करते-करते शून्य बन जाने का ध्येय रखने का है।

इस प्रकार की जागृतिपूर्वक की साधना न हो तो ध्यान जैसे साधन से भयंकर अहंकार अपना नया रूप धारण कर के श्रेयार्थी को भीषण गहरी खाई में धकेल देगा। परिणाम में कल्पना न कर सके वैसे व्यवहारों में फँस जायेंगे। इसमें से बचने के लिए सब से पहले तो साधना की गुप्तता की अनिवार्यता के बारे में पूज्य श्रीमोटा ने समझाया है। साधना की गुप्तता रखने के लिए मेहनत करने की जरूरत नहीं है। क्योंकि श्रेयार्थी को तो उसके दैनिक आहारविहार जितनी सहज

और साहजिक माननी चाहिए। उठना-बैठना-भोजन करना इत्यादि क्रियाओं के बारे में हम दूसरों के समक्ष बात नहीं करते हैं, उसी प्रकार साधना के बारे में साहजिक गुप्तता रखना है। उसमें समान ध्येयवाले-समानार्थी-श्रेयार्थी के साथ का विनमय (आवश्यकतानुसार) अपवाद माना गया है।

श्रेयार्थी नियमित प्रतिदिन के दो से तीन घंटे भक्तिभाव से ध्यान जैसे साधन का अभ्यास करते रहे, उसके बाद उसे रस, तल्लीनता, गाढ़ता इत्यादि का अनुभव होता है। इससे किसी भी साधन का स्वीकार करने के बाद और उसकी पद्धति अनुसार की लंबी अवधि के अभ्यास तक अखुट धैर्य का गुण श्रेयार्थी को जीवंत रखना है। वर्ना भ्रमना में फँसते हुए देर नहीं लगेगी। ध्यान दरमियान दृश्य, प्रकाश, ध्वनि के लिए पूर्वधारणा न रखे और ध्यान के अभ्यास से विकसित होते हुए अनुभव में आवे तो वहाँ रुके नहीं। इसके लिए तटस्थता का उपयोग करते रहना है।

लंबे समय के ध्यान के अभ्यास में से क्या-क्या अनुभव होता है, उसका ब्योरा पूज्य श्रीमोटा ने दिया है, वह श्रेयार्थी को अपनी स्वयं की तलाश के लिए उपयोगी होगा। **आध्यात्मिक जीवन के रहस्य, तथ्य, मर्म, हार्द आदि पर नया प्रकश होता है और बुद्धि में अनोखे प्रकाश का अनुभव होता है। ऐसे बुद्धिप्रकाश का प्रदर्शन करने का लोभ और मोह श्रेयार्थी को गिरानेवाला है।** इससे आसनस्थिरता से विकसित हुए संयम का उपयोग करने का पूज्य श्रीमोटा का सूचन है। श्रेयार्थी की क्रमशः प्रकाशित होती समझ का उपयोग अपने व्यवहार में प्रतिष्ठित करते रहना चाहिए। श्रेयार्थी की बदली हुई दृष्टि, वृत्ति और अभिगम व्यवहार में कितने प्रमाण में जीवंत बने हैं, उसका ध्यान रखना वह भी ध्यान के परिणाम का लक्षण है।

पूज्य श्रीमोटा ने अपनी साधना दरमियान ध्यान के सभी प्रकारों को सिद्ध किये थे। इस हकीकत का साधनाकथा में आपश्री ने वर्णन किया है। उसमें अनुभवदशा प्राप्त होने के बाद के ध्यान के दो प्रयोग प्रसिद्ध है। १) बनारस में नौकाविहार के दरमियान सोने के गहने का विचार हुआ, चोरी करनेवाला व्यक्ति ध्यान में दिखने पर वापस कर दिये। २) अपनी माँ सूरजबा के देहावसान के बाद उनका जन्म कन्या के रूप में काशी में कहाँ हुआ, उसकी जानकारी के लिए की हुई क्रिया को ध्यान का प्रकार मान सकते हैं।

इन दोनों घटनाएँ सन् १९४०-४१ के दरमियान की थी। उसके बाद के समय दरमियान तो (सन् १९७६ तक) आपश्रीको खुली आँखों से ध्यान और समाधि की दशा रहती थी।

यह अभ्यासपोथी सिर्फ पढ़ने के लिए नहीं, किन्तु इस साधन के बारे में स्पष्टता प्राप्त कर के उसके अनुसार अभ्यास करने के लिए है। एक श्रेयार्थी ने पूज्य श्रीमोटा ने ध्यान के बारे में जो लिखा है, उस पद्धति से अभ्यास किया है। उससे उसके जीवन में कितनेक परिवर्तन का अनुभव हुआ है। ऐसे श्रेयार्थी की प्रतीति की इस लिखनेवाले को पता होने से इस पुस्तक की इतने विस्तार से प्रस्तावना की है। यदि कोई भी श्रेयार्थी यह साधन अपने स्वभाव के अनुरूप है, ऐसा स्वीकार करता हो तो इस पुस्तक में बताई हुई रीतिओं का अमलकर अभ्यास करने को प्रेरित होगा और यदि ऐसा करने लग जायेगा तो इस अभ्यासपोथी का प्रकाशन सार्थक होगा।

सन् १९४०-४१ के दरमियान लिखे गये पूज्य श्रीमोटा के इन पत्रों में से ऐसा संकलन ६० वर्ष बाद हो रहा है। ''जीवनदर्शन'', ''जीवनसंशोधन'' और ''जीवनपगरण'' पुस्तकों में से यह संकलन हुआ है। इन संदर्भ ग्रंथों के नाम कई पेरेग्राफ के अंत में दिये हैं। फिर इस साधन से जो प्रतीति हुई है, उसकी भूमिका पर इसका संकलन-प्रकाशन हुआ है, वह शुभ संकेत है। इससे कोई श्रेयार्थी को यह लेख आत्मानुभव की ओर आगे बढ़ने के लिए मार्गदर्शक और अपनी स्थिति समझने के लिए सूचकस्तंभरूप बना रहेगा ऐसी श्रद्धा है।

– रमेश भट्ट

१, स्टेट बैंक ओफ इन्डिया ओफिसर्स सोसायटी,
नारायनणनगर, पालडी,
अहमदाबाद – ३८० ००७
ता. ७-१०-२०००

अनुक्रमणिका

भाग - १ ध्येय ०१
१. मानव-जीवन का श्रेष्ठ ध्येय ०२
२. आग्रह ०५
३. आत्मविश्वास ०९
४. नम्रता और शरणभाव ११

भाग - २ ध्यान १४
१. साधना के बारे में सूचन १५
२. ध्यान का हेतु १७
३. ध्यान का उपयोग २१
४. ध्यान में एकाग्रता २४
५. ध्यान में विचारों की श्रृंखला २७
६. प्रार्थना - ध्यान का प्रकार २९
७. ध्यान में एकाकारपन ३२
८. ध्यान में श्वासोच्छ्वास ३४
९. ध्यान के लिए समयअवधि ३५
१०. ध्यान से भावनावृद्धि ३८
११. साधन के प्रति आग्रह ४२
१२. मन की स्वस्थता ४५
१३. ध्यान के बारे में विशेष ५०
१४. ध्यान के लिए खास ५३
१५. जीवनयोग ५६
१६. ध्यान और रोज़ का जीवन ५८
१७. आत्मलक्षपन ६१
१८. ध्यान में प्रगति और सावधानी ६५

।। हरि:ॐ ।।

भाग - १

ध्येय

:: गझल ::

मिले जो-जो सब उसकी भूमिका स्वयं में रही है,
मानकर ऐसा जो वर्तन करे हृदय ज्ञानी बनता है वह।

प्रभु के भाव की डोर से जीवन के प्रसंगों को,
परोते रहे जो हृदय में, पूरा योगी बनता है वह।

चाहे जैसा भले बने, जीवन के ध्येय को कर्म में,
पूरा आकार दे भाव से, हृदय के ध्यानी सच्चे हैं वे।

- मोटा

(''प्रणामप्रलाप'' आ. तीसरी पृ. २६)

।। हरि: ॐ ।।

भाग - १

ध्येय

१ - मानव-जीवन का श्रेष्ठ ध्येय

हमारे जीवन का—मनुष्यमात्र के जीवन का—ध्येय श्रीभगवान के भाव का अनुभव कर के उसके मय होकर उसके यंत्र बन जाना। और बाद में वह जैसे चलावे वैसे चलना, और वैसा फिर अनुभव करते रहना (हृदय से) वही (ध्येय) होना चाहिए ऐसा मुझे अपने को तो लगता है। प्रत्येक को अपना जीवनध्येय तय कर लेना चाहिए। और तय करने के बाद अपनी सर्वशक्ति उसके पीछे खर्च कर देनी चाहिए। सतत पुरुषार्थ, वही ढब, वही रटन, वही सर्वस्व, ऐसी धुन पैदा करने की रहती है। इससे आपकी वृत्तियाँ प्रकृति के अनुसार कौनसा मार्ग आपको पसंद आयेगा, वह आपको तय कर लेने का रहता है। ('जीवनपगरण' पृ. ३)

एक बार हमें हमारे जीवन का मार्ग तय कर लेना चाहिए। जीवन का मर्म और अर्थ किस लिए है, वह हृदय से-हृदय के मथन से-मनोमंथन से-एक बार तय कर लेना चाहिए और एक बार उसके अनुसार निश्चित हो जाने पर बाद में उसके अनुसार हमारे भाव, वर्तन और पुरुषार्थ रहना चाहिए।

('जीवनपगरण' पृ. ११)

आपने अभी जो जपयज्ञ प्रारंभ किया है, वह यदि अभी रोक सको तो वैसा करने की मेरी आप से सिफारिश है, क्योंकि अभी तो हो सके उतना पूरा समय जागृत रहकर मन की गति को पहचानने का प्रयास किया करो और अब बाकी के जीवन के अभिगम और ध्येय के बारे में स्पष्टता दिल के साथ करते रहो। उसी बाबत का सतत चिंतन किया करो और मन के साथ उस बाबत का ठीक स्पष्टीकरण कर लो। उसमें जो कुछ भी शंका उठे उसका भी प्रेमभाव से समाधान कर लो। जीवन का अर्थ और रहस्य किस में रहे हुए हैं, वह सब निश्चितरूप से समझ लेना चाहिए। सब तरफ से विचार कर-कर के फायदा-नुकसान, जय-पराजय (हालाँकि इसमें नुकसान या पराजय जैसा है ही नहीं) सोचकर आगे कदम बढ़ावे। जप करने लगोगे, तो उपरोक्त बाबत में विचार करने की जो तटस्थ भूमिका चाहिए वह नहीं रह सकेगी। इससे मेरी तो हृदय की

इच्छा है कि अभी आप जीवन के ध्येय के बारे में ही चिंतन करते रहो और उसके विचारों का ही मंथन मन में करते रहो। उसे ही घोटते रहो और मन में होनेवाले, उठनेवाले सभी प्रवाहों को ध्यानपूर्वक देखते रहो और ऐसे देखते-देखते जो ध्यान से दिखे उसका गहरा पृथक्करण किया करो और उसमें से फिर सार निकालने का इस समय तो सीखना है।

मन हमें अपने ऊपर की तह-पपड़ी उकेलने नहीं देता। मन की अवगणना कर के उसकी अनेक प्रकार की पपड़ी उकेलकर हमें उसके स्वरूप को पहचानना है। उसमें तो ऐसी अव्यवस्था होती है कि वह तो प्रत्यक्ष अनुभव करेंगे तब ही समझ में आयेगा। यदि कोई कहे, ''उसमें तो कोई अव्यवस्था नहीं है और मथन भी नहीं है'' तो इतना कहना है: ''उसने उस प्रकार का करने जैसा योग्य पुरुषार्थ और उस तरह का योग्य चिंतन सावधानीपूर्वक किये नहीं हैं।'' अन्यथा, मनहृदय के मथन की क्रिया में कुछ न कुछ तो उपर तैर आना ही चाहिए। और वह हम सतत जागृत रहकर जो-जो प्रतिकूल हो, उसे श्रीप्रभु के चरणकमल पर समर्पण कर दें, और जो-जो सच हो यानी कि जीवन को रचनात्मक काम में प्रेरित करे ऐसा हो, उसका साधना में उपयोग कर के, वह भी उसे ही समर्पण कर के हमें तो खाली और खाली ही रहना है।

('जीवनपगरण' पृ १३-१४)

हमें इस विषय में जो कुछ करना है, वह अत्यंत नम्र, दीनभाव से और कोई जाने नहीं उस प्रकार ही करना है। वह किसीको बताने का प्रयोजन भी क्या हो? हम खाते हैं, श्वास लेते हैं, सोते हैं इत्यादि नैसर्गिक क्रियाएँ करते हैं, उस बारे में थोड़े ही कुछ किसीको उल्लेख करते हैं? उसी प्रकार जीवन-मार्ग का साधन स्वाभाविक रूप से, सहजरूप से करते रहना है। ऐसा कुछ करते हैं वैसा भान हो या रहे यह भी गलत है और ऐसा भान होना या रहना वह तो उलटा जीवन की प्रगति को रोकनेवाला है।

फिर कहीं भी अंधश्रद्धा रखने की नहीं है। जो कुछ करें वह समझकर ज्ञानपूर्वक करने का है और वह भी प्रभु की प्रीति के लिए और उसकी कृपा ही कराती है, ऐसा हृदय से भाव रखते रहना है। अत: पुरुषार्थ करते हुए भी जैसे करते ही नहीं। और जो-जो कुछ करें, सोचें, बरते वह-वह सब श्रीप्रभु को ही

समर्पण कर देना चाहिए और खाली ही रहना चाहिए।

श्रद्धा, विश्वास और प्रेम वह जीवनपाथेय है। इतनी ही सिर्फ पूँजी पास में रखनी होती है। दूसरा सब खोने की तैयारी करना है। इसमें पड़ने से पहले आप अपने मन को खूब छानबीन कर के देखो और उस बाबत की तैयारी कर लेना है।

('जीवनपगरण' पृ.१८-१९)

।। हरिः ॐ ।।

२ - आग्रह

आपको अनेक बार आग्रह न रखने के लिए लिखा है। किन्तु आग्रह कहाँ रखना या कहाँ न रखना वह विवेक समझने जैसा है। हम जो साधना करते हैं, उसे तो मकोड़े या चींटी के समान लगे रहना। उसके लिए आग्रह जितना ज्यादा दृढ़ उसकी योग्यता में रख सके उतना ज्यादा रखना है। उसके आग्रह से जो काम हुआ करेगा, उससे जो गढ़न होगा और उसमें से रस उत्पन्न होगा। जैसे सोने के रस को ढ़ालने के लिए मजबूत नली होती है, वैसे हमें भी श्रीभगवान के ''रस'' को आकार लेने के लिए योग्य नली बनना पड़ेगा। वहाँ हमारा आग्रह रखे नहीं चलेगा, क्योंकि सोने के लिए की नली और इस नली में फर्क है। जैसी नली हम बने होंगे वैसा आकार होगा ही वैसा हमारी बाबत में नहीं होगा, क्योंकि जो कुछ ''रस'' रूप में तैयार हुआ होगा, वह ''रस'' तो ऐसा है कि ''उस'' के अनुरूप भूमिका हम यदि नहीं बना सकेंगे तो जो कुछ थोड़ा बहुत ''रस'' उत्पन्न हुआ होगा, वह भी अपने लायक receptive पात्र-बर्तन तैयार न होने के कारण सूख जायेगा।

इस कारण से हमें एक साथ दो प्रकार की प्रक्रिया में से पार होना है। एक तो हम जो कुछ करते रहें उसमें दिन ब दिन प्रेम, रस, भाव की बढ़ोतरी किया करें और उसमें दृढ़ होते जावे और दूसरा, उसके लिए भूमिका निर्माण करने के लिए ज्यादा से ज्यादा हमें अंतर्मुख भी होना पड़ेगा। यह भी पहले के जैसा ही जरूरी है। हमारे में मन जो खेल खेल रहा है, वह सब देखना ही पड़ेगा। बराबर ध्यान लगाकर देखकर-देखकर समझना पड़ेगा, और मन को पूरे संयम में लाना पड़ेगा। मन हमारा सरदार बन बैठा है। मन और इंद्रियों के मार्गदर्शन के अनुसार हम काम करते हैं। उसमें कारणभूत वे हैं, हम नहीं। हम उस प्रकार अभ्यस्त हैं, उसके बदले यमुनागति उलटी करनी पड़ेगी। मन और इंद्रिओं को पड़ी हुई आदतों के हालाँकि हम गुलाम बने हुए हैं, फिर भी वे ऐसे लुच्चे हैं कि हम गुलाम बनें हैं, ऐसा भान भी हमें नहीं होने देते हैं। कितनेक को उसका भान होता है तो उसका सामना करने की शक्ति नहीं होती है। वह शक्ति हमारी साधना में से प्राप्त होती है। उस शक्ति का उपयोग फिर इसमें (अंतर्मुख होने में और श्रद्धा, प्रेम इत्यादि को बढ़ाने में) सतत करते रहने का है। यदि वैसा न करें तो वह इकट्ठी हुई

शक्ति गर्मी के बादलों के समान बिखर जाती है और हम जैसे थे वैसे के वैसे खाली हाथ मलते रह जाते हैं। उलटा मन, इंद्रियाँ इत्यादि हावी हो जाते हैं। इसलिए हमें प्राप्त हुई शक्ति का उपयोग अंतर्मुख होने में सतत करते रहना है।

यह एक बड़ी से बड़ी चाबी है। हमारे में जो गुरु की रूढ़ि पड़ी हुई है, वह इसलिए है कि वे ऐसी चाबी बताते रहते हैं। यदि हम स्पष्टरूप से अंदर का खेल समझेंगे नहीं और उससे पर होने का सतत प्रयास नहीं होगा तो हमारा सभी किया हुआ लाभदायक नहीं होगा। तो प्रश्न उठता है कि जो बेचारा गँवार हो, अनपढ़ और अज्ञान हो, और जिसे ऐसी कोई सूझबूझ ना हो, वह यदि भगवान का नाम लिया करता हो और भजनकीर्तन भाव से करता हो तो ऐसी सूझबूझ न होने के कारण क्या उसकी शक्ति सभी नष्ट हो जायेगी ? किन्तु नहीं, ऐसा नहीं होता है, क्योंकि एक तो ऐसा देहाती सरल होता है। हमारे जितनी Complexes ग्रंथियाँ और उलझनें और टेढ़ी-मेढ़ी बुद्धि की वक्रता उसे होती नहीं है। फिर, उसमें सरलता सविशेष होने से और भावनाप्रधान होने से और अपने में ही रत ज्यादा रहता होने से उसमें शक्ति या गति का संग्रह ज्यादा होता है। वह शक्तिसंग्रह ही उसकी समझ के द्वार खोल देता है। हमारे में भी वैसा हो सकता है, किन्तु जो कुछ थोड़ी-थोड़ी शक्ति जमा करे, उसका उपयोग यदि हम इस प्रकार करते हो तो अच्छी तरह परहेज करने से जैसे दवा की असर एकदम होती है, वैसे ऊपर की शर्त पर बल की असर क्रमशः बढ़ती जाती है और पुरुषार्थ में रत होते जाते हैं एवं उसमें मंदता आने की संभावना कम होती जाती है।

('जीवनपगरण', पृ.१८५—१८७)

हमें कहीं किसी में आग्रही वृत्ति रखना नहीं है, विचार में भी नहीं और मन में भी नहीं। कोई कहे कि ऐसा है तो भले वैसा हो, कोई कहे ऐसा नहीं है तो भले वैसा न हो। जो काम हमारा समझे हैं उसमें तो मरजिया निर्धार प्रकट करने का है और रखने का है। किस प्रकार जीवनविकास का कर्म आगे बढ़े उस तरफ समग्र और संपूर्ण एकाग्र और केन्द्रित लक्ष देना है, और ध्येय की भावना अनुसार जो कुछ उगे, सूझे उसके अनुसार जीवन में बरताव करने का निश्चय दृढ़ रखना है। उसमें आनेवाले विघ्नों को काट डालना है। वहाँ कुछ बाकी या ढ़ीला रखना

नहीं है। **जीवनध्येय के लिए आग्रह यानी एकनिष्ठापूर्वक का एकाग्र और केंद्रित जीवनवहन, ऐसा अर्थ ''आग्रह'' का करना है। शक्ति और बुद्धि को तथा अंत:करण की इंद्रियों को भी ''बहुशाखा'' और अनंत होने देना और तितर-बितर नहीं होने देना है। उनको मोड़ मोड़कर एक ही पाट में बहते हो जाय वह हमारा जीवनकार्य है। उसके लिए आग्रह तो जरूर रखना है, किन्तु उसके सिवा किसी में आग्रह रखना नहीं है। तो कोई बुद्धिमान कहेंगे ''वह तो बैठक बिना के मटके जैसा है। कोई सिद्धांत-बिद्धांत है नहीं! ऐसा मनुष्य किस काम का !'' ऐसा कोई कहे तो उसे कहने दो। हमें तो उस एक के सिवा अन्य सभी बाबतों में अनाग्रह रखना है। बुद्धिवाले और अपने को सिद्धांतवाले कहे जाते मनुष्य को यह बात गले उतरना कठिन है, किन्तु यह बात गले उतरने से उलटी शक्ति बढ़ती है, ऐसा अनुभव ''इस'' मार्ग के हरएक यात्री को हुआ है। और दूसरे का प्रेम मिलता है और इससे उस शक्ति का लाभ भी हमें मिलता है वह अलग।**

एक के सिवा अन्य सभी बाबतों में निराग्रह का आग्रह (?) क्यों रखता हूँ ? क्योंकि एक तो साधना के क्षेत्र में ''आग्रह'' का अर्थ अलग है: (आगे कहा है वैसे) ध्येय में एकनिष्ठापूर्वक एकाग्रता और केंद्रितता तथा बीच में आनेवाले विघ्नों को पार करने की तत्परता। दूसरा, अन्य बाबतों में —जैसे कि राजकारण, समाजसेवा, तत्त्वज्ञान का वाद भी—इन सब में आग्रह अर्थात् एक प्रकार का सूक्ष्म मैंपन फिर चाहे वह विस्तृत समझ के प्रकार हो ! धर्म में भी ऐसे प्रकार का आग्रह होता है। हमारा ही धर्म (या धार्मिक या आध्यात्मिक मान्यता) सत्य और उस प्रकार अन्य जीये तो उनका कल्याण हो या जल्दी या ज्यादा कल्याण हो ऐसा मताग्रह होता है। उसके अतिरिक्त समाजरचना, अर्थकारण या राज्यप्रकरण में अपनीअपनी समझ के अनुसार का दृढ़ आग्रह प्रचलित हुआ करता है और उसमें अहम्युक्त वृत्ति प्राधान्य रहती है। और इससे एकदूसरे वाद के संबंध में और एकदूसरे देश के संबंध में गुप्त और प्रकट संघर्षण चला करता है। यों अनेक प्रकार की चौकस चौखट में कैद हुई दृढ़ मान्यताएँ अनेक क्षेत्र में प्रचलित है। **जीवनसाधना यानी सिर्फ निबँध रीति से सर्वान्तर्यामी और सर्वज्ञ हमें मार्गदर्शन देवें, उस प्रकार चलने की ज्ञानभक्तिपूर्वक की जीवंत चेतनात्मक मुलायमतावाली आंतरिक प्रक्रिया।** उसमें शुद्ध खालिसता प्रकट हो जाय अर्थात् कि प्रकृति के सत्त्व, रजस और तमस इन तीन गुणों से प्रेरित

होकर जीवनवहन होने के बदले सिर्फ आत्मा या पुरुष या ईश्वर से प्रेरित होनेवाला जीवन हो जाय, संपूर्णरूप से ज्ञानभक्तिपूर्वक का उसका साधन या यंत्र बन जाय, ऐसा जीवन जी सके, तद्रुप हो सके, उसका नाम साधना या सिद्धि। उसमें अंतिम सत्य यही है कि यही हो सकता है ऐसी समझ का स्थान नहीं है। वैसे, उसमें किसी वाद का खंडन या मंडन होता नहीं है। जब किसी भी प्रकार की फिलसूफी में तो वैसा होता है। उस दृष्टि से देखने पर तो जहाँ फिलसूफी (उसके प्रचलित अर्थ में) पूरी होती है, वहाँ से सच्ची साधना की शुरूआत होती है।

फिर, आप लिखते हो कि (चर्चा चल रही थी, उस दरमियान) अंतर में जप-धारणा चालू थे, अब, ऐसा होना संभव नहीं है। यदि वास्तविकरूप से ऐसा होता तो इतना रस आप बिलकुल नहीं ले सके होते, और आप से तब उसमें इतनी आग्रहवृत्ति नहीं रह सकी होती।

('जीवनसंशोधन', पृ. १२९-१३१)

।। हरि:ॐ ।।

३ - आत्मविश्वास

कोई काम लेना तो वह श्रद्धा रखकर लेना चाहिए। और वह काम प्रेम से संपूर्णरूप से पूरा कर सकूँगा ऐसे ठोस आत्मविश्वास से वह लेना चाहिए। साधना में जीवंतजागृत आत्मविश्वास का काम है। जिसे अपने पर आत्मविश्वास नहीं हैं, वह जगत में कुछ नहीं कर सकेगा। प्रकट हुए दृढ़ आत्मविश्वास के बिना हुए कर्म में कुछ सार प्रकट नहीं होता। आत्मविश्वास के बिना साहस, हिंमत, बल, पराक्रम, धैर्य इत्यादि गुण प्रकट नहीं हो सकते हैं। कोई भी कर्म करने के लिए आत्मविश्वास बहुत बड़ा जरूरी साधन है। जिसे दृढ़ आत्मविश्वास प्रकट हुआ है कि ''यह कर्म तो प्रभुकृपा से तो मेरे से जरूर हो सकेगा'', उसे कर्म के आरपार निकल जाने का हृदय में हुलास प्रकट होता है। कर्म में आनेवाली मुश्किलें और उलझनों का वह प्रेम से और सरलता से समाधान निकालता रहता है। वह कहीं भी रुकने का तो जानता ही नहीं है। उसकी दृष्टि कर्म में एकाग्र और केंद्रित होकर व्याप्त होती है, और कर्म के उस पार भी सीधी निकल जाती है। **साधना में आत्मविश्वास वह तो बड़े से बड़ा हथियार है।**

आज देश में और दुनिया में जो वातावरण फैला हुआ है, वह इन वादों के झगड़े का परिणाम है। हम सब ने संपूर्ण श्रद्धा रखे बिना आज तक सत्याग्रह में जो काम किये (मन में अनेक प्रकार के रागद्वेष होने से) उसका परिणाम अभी देश भुगत रहा है। बिगड़ा हुआ कर्म हम सविशेष मेहनत कर के सुधार सकते हैं, किन्तु वह बात तो यहाँ अप्रस्तुत है। आप स्वयं लिखते हो कि पूज्य गांधीजी के कार्यक्रम में आपको पहले से ही संपूर्ण १०० प्रतिशत श्रद्धा नहीं थी, यानी कि ऐसी अश्रद्धा या अधूरी श्रद्धा के कारण आप संपूर्णरूप से सफल न हो सके। ऐसी अश्रद्धा के परिणाम के कारण हमारे में संपूर्ण आत्मविश्वास प्रकट न हो सका, तो बेहतर है कि उस प्रकार किसी भी कर्म का आरंभ न हो। श्रद्धा के बिना आत्मविश्वास भी प्रकट नहीं हो सकता है तो फिर आंतरिक बल की तो बात ही क्या करना? जिस किसीको भी अपने में दृढ़ विश्वास प्रकट नहीं होता है, वह कभी किसी में विजयी नहीं हो सकेगा। इससे ऐसे साधना के कर्म में तो श्रद्धा की विशेष और विशेष परम आवश्यकता है। वह जिसे प्रकट न होती हो, उसके लिए ''यह'' मार्ग नहीं है।

('जीवनसंशोधन' पृ. १३२-१३३)

इसके साथ कई मुद्दे लिखकर भेजे हैं ...

१) प्रत्येक कार्य उत्साह से, प्रेम से करना। मन के संकोच के साथ नहीं करना।

२) प्रत्येक काम, बात, विचार, संबंध, व्यवहार इत्यादि अमुक खास हेतु के लिए ही करना और वह हेतु हमारे कार्य को वेग देनेवाला होना चाहिए। कुछ भी ''अकारण'' न करना। जो कुछ करें, वह जागृति के साथ करना।

३) शुद्ध भाव रखना। स्थूल का ख्याल न करना।

४) हमारे मूल कार्य में ही इतना सारा आग्रह रखना कि जिससे दूसरे सब आग्रह छूट जाय।

५) प्रत्येक प्रसंग, संबंध इत्यादि के पीछे भगवान का हेतु समझना और हमारे कल्याण के लिए ही वह है, यह समझना।

हमारे आग्रहों को छोड़ देने की धन्य पल लाने की बात जैसे हमारे अपने हाथ में है वैसे भगवान पर भी वह आधार रखती है। हम यदि समर्पणभाव से और शरणभाव से रहकर तटस्थतापूर्वक हमारा पुरुषार्थ करते रहेंगे तो क्या-क्या हमें नहीं करना है, वह भी हमें सूझता रहेगा। फिर, जो सब आग्रह हमारे में छिपे हुए रहे हैं और जब-जब ऊपर आकर अपना जोर करते दिखते हैं, तब यदि हम साक्षीभाव और जागृति रख सकते हों तो ''यह हमारा आग्रह है'' ऐसा ख्याल तुरंत ही आ जायेगा और वह विचार ही हमें वैसा करते जरूर रोकेगा। जो कोई नये परिणाम पैदा होनेवाले हैं, वह कोई ऊपर से, अंतरिक्ष से गिरनेवाले नहीं हैं या किसी दूसरे में से आनेवाले नहीं हैं, किन्तु हमारे अपने में से ही उत्पन्न होनेवाले हैं।

('जीवनपगरण' पृ. १५८-१५९)

भगवान हमें किस—किस प्रकार मदद करते रहते हैं और वह हमें मदद करने के लिए साक्षात् प्रत्यक्ष खड़ा ही है, ऐसा अनुभव जीवन में होने पर हमें उसकी सुखद् छाया दृढ़ होती है और उसकी असर किसी भी घटनाओं से मिट जा सकती नहीं है। वह तो चिरंजीव होकर ही रहती है। प्रभु दयालु हैं और सब से बड़ा है, वह सिर्फ कल्पना नहीं है, किन्तु संत, भक्त और अनुभवी पुरुषों का अनुभव किया हुआ वचन है। भगवान आपको ऐसे अनुभव का नवनीत चखाये वही प्रार्थना है।

('जीवनपगरण' पृ. १०४)

।। हरिः ॐ ।।

४ - नम्रता और शरणभाव

जैसे-जैसे हमें भगवान के भाव में रस होता जाय वैसे-वैसे हमें ज्यादा से ज्यादा नम्र होते रहना है। यदि दिल में कहीं भी ऐसा भाव आया कि ''अब मेरे से बहुत अच्छी तरह आगे बढ़ा गया है'' या कोई हमारे बखान करे उसमें अंदर-अंदर में भी सरस लगा तो मर गये समझना। जैसे भस्म या मात्रा खाते हों, किन्तु यदि कुछ परहेज से विपरीत ऐसा खा लिया तो वह गुण के लिए खाई हुई भस्म या मात्रा उलटी फूट निकलती है और हमें ही परेशान करती है। जैसे पू. गांधीजी कहते हैं कि अहिंसा तो दोनों ओर धारवाली तलवार है वैसे। इससे यदि वह सच्चे प्रकार से उपयोग की जाय तो फायदा करे और यदि उसके पथ्य के अनुसार उपयोग न हो तो उपयोगकर्ता को भी नुकसान करती है। वैसा ही इसमें है। यदि थोड़ा अभिमान कि ''मैं ठीक कर सकता हूँ'' ''मेरा बराबर इसमें प्रवेश हो सका है'' ऐसे किसी प्रकार के विचार आये और यदि पोषण हुआ तो किया करा धूल में मिल जायेगा, इतना ख्याल में आपको रहे इसलिए इतना उपोद्घात किया है। पहले भी लिखा था, किन्तु फिर से लिखता हूँ कि जिससे उसकी गंभीरता आप ख्याल में रखा करो। हमें तो बिलकुल शून्यवत् हो जाना है। हमारा अहम् जहाँ तक हमारे में रहेगा, वहाँ तक भागवतभाव वहाँ पैदा हो सकनेवाला नहीं ही है। हम जो कुछ करते हों, वह करते रहते हैं ऐसा ख्याल भी आये बिना सहज भाव से, स्वाभाविक रीति से वह होता जाय—बनता जाय—ऐसी आदत हमें डालनी चाहिए।

फिर, जैसे-जैसे हम आगे बढ़ते जायेंगे वैसे-वैसे हमें उस भागवतभाव का हमारे में संपूर्ण रूप से आविर्भाव करने के लिए खूब तमन्ना और जिज्ञासा बढ़ाते ही जाना चाहिए। किन्तु उसके साथ उसकी किसी प्रकार की चिंता या बिलबिलाहट न होने चाहिए। यदि तमन्ना और जिज्ञासा का जोश बढ़ता नहीं रहेगा तो आगे भी नहीं ही बढ़ा जा सकेगा। तमन्ना और जिज्ञासारूपी हमारे पाल में जोशरूपी पवन जितने प्रमाण में भरा जायेगा उतने प्रमाण में हमारी नाव जल्दी या धीरे चला करेगी।

('जीवनपगरण' पृ. १०४-१०५)

सुबहशाम नियमित प्रार्थना करने का रखना। दिन दरमियान भी कुछ ऐसा लगे या अनुभव हो, तब प्रार्थना करना। उसमें ''हमें अच्छे विचार आवे, हमारे से

किसीका भी बुरा न हो, हमेशा हमारे से सब का भला हुआ करे वैसी भगवान को प्रार्थना करनी चाहिए।

('जीवनपगरण' पृ. ७२)

हम साबरमती आश्रम में साथ थे, तब आप ने एक बार कहा था कि ''इस जीव ने'' बताई हुई साधना में आप स्थिर हुए हो और अब उसमें लीन रहोगे और चलित नहीं होंगे। किन्तु तब ही आपको प्रभुकृपा से चिताया था और चेतावनी दी थी कि प्रकृति से आप चलित हो जाय वैसे हो। हमारी वह बातचीत याद है न? ऐसे प्रसंग से इतना आपको कुछ नहीं तो समझ में आया वह भी आनंद की बात है। बाकी ''इस जीव '' का तो अब ''उसके '' निमित्त, ''उसके'' साधन बनकर जो कोई ''उसकी'' कृपा से संबंध में आवे उसे उसमें रहे हुए परम तत्त्व का भान जगाने का काम है।

('जीवनसंशोधन' पृ. १२७)

आंतरिक शक्ति प्राप्त करें और बाद में श्रीभगवान के यंत्र बन जावे और फिर उसकी इस गूढ़ रहस्यमय रचना में, लीला में हम उसके हेतु के हथियार बन जावे और जिस हेतु का हिस्सा बनने के लिए श्रीभगवान की कृपा से हमारा सर्जन हुआ है, उस हेतु को प्रेभभिक्त से साधा करे, परिपूर्ण करते रहे, ऐसा जीवन का हेतु भी दिल में दिल से ख्याल में रखते रहने का है। जीवन के आदर्श को सदैव विस्तार की पंख हैं। आदर्श जैसे-जैसे हम भावना से प्राप्त करने का प्रयास करेंगे वैसे-वैसे आदर्श का तादृश्यपन होता हुआ अनुभव कर सकते हैं। आदर्श को संपूर्णरूप से एकसाथ एकसमय में संपूर्ण अनुभव किया जा सके ऐसा होने की संभावना बहुत कम है। प्रभुकृपा से आदर्श की झाँकी हो और ऐसे प्रकार के दर्शन से जीवन में उस संबंध का आकर्षण एकाग्रता की तीव्रता से प्रकट हो और उसके संबंध में बहुत आकर्षण दिल से प्रकट हो वह हकीकत सच है; और आदर्श इतना और ऐसा ही है, वैसा शुरू-शुरू में चाहे हम स्वीकार करें, किन्तु सच्ची रीति से तो उसका भी अंत नहीं हो सकता है।

आप जब ध्यान में बैठेंगे, तब हम प्रेमभाव से साथ ही हैं। बहुत प्रेमभाव रखना। यह प्रेमभाव माँगता हूँ वह मेरे कारण से नहीं। मैंने तो भगवान की कृपा से ''उस'' का भजन करते-करते और जीवनविकास की साधना करते-करते, प्रभु

की कृपा से प्रेम का एकाध किरण छोटीसी शलाका जितना प्राप्त किया है जरूर; अत: आपके पास से आपके दिल का जो प्रेमभाव मैं माँगता हूँ, उसका कारण तो वही है कि हमारे दिल में जिस प्रकार की और जिस संबंध में सचमुच दिल में दिल से दिल की भावना प्रकट हुई हो, उसके वचन की यथार्थता हम योग्य प्रकार से स्वीकार करनेवाले हैं और इसीलिए मैं आपका प्रेमभाव चाहता हूँ।

ऐसा दिल का दिल में दिल से प्रेमभाव प्रकट हुए बिना सद्गुरु के जीवनविकास की साधना की भावना के संस्कार को हम कभी ग्रहण नहीं कर सकेंगे। उसके संस्कार अवश्य चित्त में पड़ेंगे तो जरूर; किन्तु उसका असल स्वरूप बदल जायेगा, क्योंकि हम अभी जीवदशावाले रहे होने से उसकी भावना के संस्कार को उसकी यथार्यता के प्रमाण में कभी भी स्वीकार कर सके ऐसी संभावनावाले हम प्रकट नहीं हुए हैं। और शायद कल्पना करे कि हमारी बुद्धि स्वीकार करे, तो वह स्वीकार करती है वह भी मात्र दिखावटी रीति से। हम कोई चेतना में निष्ठा प्राप्त किए हुए मुक्तात्मा के संबंध में हों, तो जहाँ तक उसके संबंध की हमारे दिल में प्रेमभक्ति की ज्ञानयुक्त निष्ठा प्रकट हुई होती नहीं है, वहाँ तक हम उसे हमारी रीति से ही समझनेवाले हैं। उसके जीवन के ऐसे कई सच्चे बने हुए प्रसंगों का मर्म और ऐसे बने हुए उसके प्रसंग पर से अनुभव से साबित होनेवाला उसका इंद्रियातीतपन कुछ समय के लिए हमे लगेगा सही, अल्प समय के लिए हमारे में अहोभाव भी प्रकट करेगा, किन्तु वह सब अपनेआप फिर उड़ जायेगा। इससे उन संस्कारों को हमारे जीवन में काम करते बना देने के लिए हमें वैसे चेतन पुरुष के संबंध में ज्ञान की भावना से और हेतु के ज्ञानभाव के साथ उसके प्रति प्रेमभक्तिवाले बन जावे वह बहुत-बहुत जरूरी है।

।। हरि: ॐ ।।

भाग - २

ध्यान

:: (अनुष्टुप) ::

लाखों बार कितने भी उपदेश सुनते रहो भले,
जाओ कोटि बार भले संतों के भी सत्संग में।
शास्त्र के चिंतन गहरे और अभ्यास उसका किया करो,
फिर भी नहीं वह प्राप्त होगा बिना कुछ साधना किये।
ज्वलंत साधना में जो अपना सर्व होमेगा,
वह सभी के स्वभाव से वर्तन अलग करना जानेगा।
साधना मात्र उपाय अकेला एक वहाँ सही,
शक्ति को प्राप्त करने का, व्यर्थ प्रयास अन्य सभी जानो।

- मोटा

('कर्मगाथा', आ. दूसरी, पृ. ४४-४५)

।। हरिः ॐ ।।

भाग - २

ध्यान

१ - साधना के बारे में सूचन

चाय पीने के बाद शौच जाकर आने पर नहाधोकर ध्यान में बैठते हो, तब पूर्व की तरफ मुख कर के बैठकर आनंद की भावना की या चेतना की लहरें जैसे ''इस'' शरीर के हृदयप्रदेश पर एकाग्र दृष्टि रखकर ''यह जीव'' वहाँ था, तब लेते थे, वैसे अब आपके शरीर के हृदय पर एकाग्र और केंद्रित लक्ष्य रख-रखकर वैसी चेतना लहरों को लेकर उसकी स्मरणधारणा कर-कर के आनंदवृत्ति रखकर उस चेतनाप्रवाह को ऊपर ले जाने का रखें।

वर्तमान में तो शरीर जहाँ तक स्वस्थ हुआ नहीं है, वहाँ तक दोपहर को थोड़ा आराम करने का रखा है, वह भले रखा; किन्तु हमेश के लिए वैसा न करना। मुँह धोकर फिर ध्यान में थोड़ा समय बिताने के बाद आपके काम पर आने का रखें।

('जीवनसंशोधन' पृ. ३८)

ध्यान में बैठने से पहले यदि विचार बहुत आ रहे हो, तो उस वक्त ऐसे के ऐसे ही उन्हें रखकर ध्यान में कभी भी न बैठना। ''तो वक्त हो गया हो तो क्या करना?'' अरे, किन्तु भाईसाहब! हमें ध्यान में अमुक-अमुक वक्त बैठना है ऐसा यदि जागृत ख्याल निश्चितरूप से रहा करता हो तो उस वक्त के पहले सावधान होकर हमें मन को शांत करने के जागृत प्रयत्न करने चाहिए और ऐसा करनेवाले को स्वयं को तो उसकी समझ पड़ेगी।

फिर कोई एक ऐसा भी मानते हैं कि कोई गुरु ऐसे होते हैं कि शिष्य की लायकी न हो फिर भी अपनी शक्ति के प्रभाव से उसे संपूर्ण बना देते हैं। किन्तु मेरी समझ और अनुभव की हकीकत उस बाबत में अलग प्रकार की है। या तो गुरु पर के श्रद्धा-विश्वास और भाव शिष्य में जीवंत प्रकट हुए हो तो उसमें से ही एक प्रकार का एकाग्रता का जोश प्रकट होता है और ऐसे श्रद्धा-विश्वास और भाव का प्रेमभिक्तपूर्वक अनुशीलन और परिशीलन वह किया करता रहता होने से उसमें से भी एक प्रकार की शक्ति प्रकट होती है, ऐसी शिष्य की दशा प्रकट होने से, सद्गुरु का उसके संबंध में प्रकट हुआ प्रेम और उसके पर उसका

उछलता हुलास उसे वैसा बना देने में प्रेरणात्मक और सहायक बन सकता है; या तो शिष्य अंदर से तो ज्यादा तेजस्वी और ज्वालामुखी जैसी दहकती तमन्नावाला हो अर्थात् अंदर से पक गई दशा में हो तो भी ऐसा हो जाना संभव है। और यह काम जल्दी पूरा हो गया हो, इससे दुनिया को उसमें कोई प्रभाव दिखता है। बाकी, वैसे तुरंत ''चूल्हे पर रखते ही खिचड़ी पक जाय'' ऐसा बनना संभव नहीं है। पूरा आधार अपनी स्थिति पर है। अलबत्ता, उसमें दूसरे की मदद, प्रेरणा, भाव इत्यादि जीवंत रूप से वृद्धि कर सकते हैं जरूर। अकेले भटकते रहे उसके बदले में कोई मार्गदर्शक हो तो फर्क पड़ सकता है, किन्तु उसमें भी सद्गुरु पर की जीवंत श्रद्धा ही उसका मार्गदर्शन करती है। बालक में जब चलने की एक नैसर्गिक urge - प्रेरणात्मक इच्छा प्रकट हुई होती है, तब उसकी चलने की शक्ति को जन्म देने में उसकी अँगुली पकड़ना मददरूप हो सकता है। यह हकीकत भी समझने जैसी है। इससे सच्ची रीति से तो हमारे में ऐसी urge भी प्रकट हो चुकी होनी चाहिए।

साधनाकाल में जिस प्रकार की रगड़ हुई है, उन सभी रगड़ के निवारण के लिए प्रभुकृपा से जो-जो पुरुषार्थ करने का होता रहता, वैसा पुरुषार्थ होते जाते उसकी प्रार्थना भी बारबार किया करने का बनता। सच्चे दिल के पुरुषार्थ के बिना प्रार्थना से कोई अर्थ निकलता नहीं है। प्रभुकृपा से सच्ची दिशा का पुरुषार्थ होता और वैसा होते अपनेआप प्रार्थना करने का दिल, दिल में कुछ-कुछ होते प्रकट हुआ करता।

('जीवनसंशोधन' पृ. ४०९—४११)

।। हरिः ॐ ।।

२ - ध्यान का हेतु

ध्यान अमुक प्रकार का ही होना चाहिए ऐसा आग्रह मन में नहीं रखना। जो कुछ हो, वह देखते रहना और उसमें से जो कोई भावना या भाव मिले, वह साधना में उपयोग करना। अमुक भाव या अमुक हो तो ही वह ध्यान उत्तम माना जायेगा ऐसा कोई भी आग्रह मन में रखना नहीं है। **ध्यान का अर्थ तो इतना ही है कि विचार—भाव या अन्य भाव—बाहर के बारे में या जगत के संबंध के बारे में या इंद्रियाँ, मन, चित्त और आखिर में प्राण के संस्कारों के बारे में हमें आते हैं, उससे पर हो सके और वह स्वाभाविक रूप से उत्पन्न न हो, लगभग अदृश्य हो जाय; तब ही हमें अंतर के आवाज की समझ आती जायेगी।** तब ही हमें हृदय के सच्चे भावों का पता लगेगा और उसका भाव, असर और उसका प्रदेश और उसकी व्यापकता समझ सकेंगे

१) ध्यान तो हमारे अंतर खोज करने (Inward Seach) के लिए होना चाहिए। २) समर्पण की भावना के लिए, ३) blankness खालीपन, निर्विचारता विकसित करने के लिए, ४) लय हो जाने के लिए, ५) प्रार्थना के mood (भाव-तरंग) जैसा हो, - यों ध्यान के भी अनेक प्रकार होते हैं। इससे एक में ऐसा हुआ और एक बार ऐसा हुआ इससे दूसरी बार भी वैसा होना ही चाहिए ऐसी स्थितिचुस्तता उसमें नहीं है। जो होता है, वह देखते रहना। जो कुछ मिले या स्फुरित हो या जागे उसे साधना के भाव में - वेग, ऊर्मि, जोश बढ़ाने के उपयोग में ही लेते रहना। **ध्यान में (सर्व प्रकार के) एकाग्रता का भाव वह मुख्य वस्तु है।** यदि वह हो, (यह एक मुख्य और आवश्यक शर्त है) तो ध्यान हुआ माना जायेगा जरूर। एकाग्रता न हो या उसका अनुभव न हो तो ध्यान हुआ नहीं माना जा सकता है। एकाग्रता के साथ ध्यान हो, तब और लीन हो सकते हैं ओर रस आता है और बहुत गहराई में जा सकते हैं और वहाँ स्थिर हो सकते हैं। वह स्थिरता जड़तावाली नहीं, किन्तु चेतन को स्फुरित करनेवाली होगी।

चौकसी वह अच्छी है; किन्तु उसे अब व्यावहारिक बाबत में से निकालकर अंदर ले जाना वह ज्यादा अच्छा है। शायद किसी वस्तु का ख्याल नहीं रहेगा तो चलेगा, किन्तु हमें जो चौकसी अंदर की रखना है, वहाँ सभी चौकसी का हमें उपयोग करना शुरू करना है। हमारे में रही हुई सभी शक्ति उसमें गँवाना-खपा देना है। हमारे प्रत्यक्ष दुर्गुण भी इसमें हमें उपयोगी हो सके

ऐसा है। उदाहरण के लिए मेरा भुलक्कड स्वभाव है। मैंने उसे उसकी चरम सीमा तक जाने देकर जो भूल जाना है, उसे उसके काम में—वह भूल जाने के काम में लिया है, और उससे मुझे कोई नुकसान हुआ नहीं है, किन्तु वह सब संपूर्ण ज्ञानपूर्वक करना है।

('जीवनपगरण' पृ. ३१—३५)

ध्यान के समय तंद्रा आने लगे, तब मुँह पर पानी की छलकें मारना। फिर, शुद्ध पानी में आँखें खुली रखकर मुँह को थोड़ी देर तक डुबो के रखना। उसके बाद ध्यान में बैठना चाहिए। मन में भाव आने देना कि अब वह (तंद्रा) आने-वाली ही नहीं है। ऐसे उससे पर होने के लिए हमें मथना पड़ेगा। ऐसे प्रत्येक बाबत में समझकर विचार कर के हमें ज्ञानपूर्वक उससे पर होते जाना है, और ऐसा अनुभव बारबार कर के उसे दृढ़ करना है। ऐसे करते-करते हमें विश्वास भी वैसा होता जायेगा।

आपको अनुभव करते-करते वह सब अपनेआप समझ में आ ही जायेगा, समझ में आ जाना चाहिए। मैं तो सिर्फ आपको उँगली निर्देश कर सकता हूँ। ज्यादा तो प्रारंभ में लगन, श्रद्धा या विश्वास इन बाबतों को स्थापित कर सकता हूँ : भाई! यह बाबत बिलकुल गप नहीं है। यह भी एक तत्त्व है और उसमें जो रस है, आनंद है, वह दूसरे सब से कुछ और प्रकार का है।

('जीवनपगरण' पृ. ३७)

ध्यान दरमियान

''जागो हृदय में जीवन चेतनशक्ति तुम्हारी''

ऐसा भाव रखे। यह पंक्ति मन में (या जोर से भी) गाई भी जा सके सही। सिर्फ मन एकाग्र, हृदय में केंद्रित होना चाहिए। आपको अन्य विचार कम आते हो तो जप इत्यादि चालू रखे और यदि उसमें लीन हो जा सके तो भले हो जाओ।

ध्यान में किसी खास प्रकार का मनोभाव हो या न हो। उस तरफ लक्ष ही नहीं देना। सिर्फ उसमें से हम सतत जागृति प्राप्त करें और साधना में वेग प्राप्त करने की शक्ति प्राप्त करें तो वह बहुत है। उस समय दरमियान यदि हमारे आग्रह, मंतव्य, मनोभाव, विचार, हमारे व्यवहार-संबंध इत्यादि सब कुछ सच्चे अर्थ में लय हो जाय तो उतने समय के लिए हमारे अंदर की चेतनाशक्ति की

Consciousness का—जिसे मैं भगवान का भाव कहता हूँ उसका—हमें स्पर्श होगा, हम जान पायेंगे, अनुभव होगा। इतने प्रमाण में हमें साधना का रस और रंग लगता ही रहेगा।

हमें हमेशा मन के रुखों से पर रहकर ही जो भी कुछ करने का है। उसका कहा मानकर नहीं, किन्तु हमें वह करना था, इसीलिए करना है, ऐसा ख्याल में दृढ़ करने की आदत डालने से मन अपने आग्रह, मंतव्य, दृष्टिबिंदु, समझ अनुभव इत्यादि के लिए आग्रह रखने का छोड़ देगा।

('जीवनपगरण' पृ. ४१-४२)

भगवान सब का है तो परिश्रम करनेवाले का क्यों न होगा? परिश्रम करनेवाले का तो सब से पहले है। जो मथन करता है, उसे उसका अनुभव होता है, किन्तु जैसे हीरे तौलने का तराजू बहुत ही नाजुक होता है, इससे उसे थोड़ीसी भी हवा लगने पर वह स्थिर नहीं रह सकता है और हिलते रहता है वैसे हम मथन करते हो वैसी स्थिति में हम मन की तुला स्थिर न रखें तो ऐसा अनुभव हमें नहीं होगा। इस प्रकार मन की स्थिरता साधना में जरूरी है।

ध्यान में किसी भी प्रकार की उथल-पुथल नहीं होने देना है। **ध्यान में समय की गणना वह मुख्य माप नहीं है, गहराई का ख्याल रखना। उस ख्याल को भी महत्त्व नहीं देना है।** ध्यान में बिजली के कड़ाके (जैसे अनुभव) हुए वह मालूम हुआ। बारिश आने पहले ऐसा-ऐसा तो बहुत होता है, किन्तु उसके बारे में कुछ भी ख्याल करना नहीं है। सिर्फ जो-जो कुछ हुआ करे वह मुझे बताते रहें।

अत्यंत प्रेमभाव रखकर जो कुछ करते रहते हो, वह जोर से करते रहो। ज्यादा चित्त दिया करो। जितना हो सके, इतना सब संसर्ग सब के साथ बंद करो। प्रेमभाव सब के प्रति रखना है, किन्तु अन्य प्रकार के संसर्ग बंद करना। हो सके उतना, अपने में ही मस्त रहना रखो। किसीको कुछ भी पूछना नहीं हैं। **आप ही आपके गुरु हैं और प्रभु हैं।** आपको जो कुछ सूझे वह जरूर पूछें। आपको ''जप'' का सूझा है, वह योग्य ही है और वैसे ही होता रहेगा। ऐसा कुछ सूझे वह अच्छा हो या ना हो तो भी बताते रहें। **नींद में से जागृत होते ही स्मरण हुआ वह भी ठीक, किन्तु आदर्श तो नींद में भी स्मरण रहे वह है।** हृदय की प्रत्येक

घड़कन के साथ रहे वैसा हमें करना है।

मन को बारबार टोकते रहना–दीये की बाती को जैसे प्रज्वलित करते हैं वैसे। प्रत्येक पल में दिल से समर्पण किया करें। किसी में ''दोगलापन'' नहीं होने देना है। ''ऐसा हुआ इसलिए ऐसा या वैसा हुआ इसलिए वैसा'' ऐसे विचारों को घोलते मत रहना। कुछ भी विचारों को उत्पन्न मत होने देना। जैसे हुआ करता हो वैसे भले हुआ करे। हमें तो हमारा भाव क्रमशः बढ़ाते रहना है और वह भी मन, बुद्धि इत्यादि करणों को ज्यादा से ज्यादा शरण में सर्व भाव से लाकर ही और नम्रता की आखिरी सीमा तक जाकर। बहुत झुकझुककर भगवान की प्रार्थना करते रहें।

''कृपागंगा तुम्हारी, सतत बहती रहो मुझ पर प्रभो!''

भगवान तो प्रकट होने के लिए आतुर हैं, किन्तु हमें आतुरता प्रकट करने के लिए जो चेतना रखनी चाहिए, उतने चपल और जागृत सभी तरफ से नहीं रह सकते हैं, वही बड़ा दोष है।

('जीवनपगरण' पृ. ४३—४५)

।। हरिः ॐ ।।

३ - ध्यान का उपयोग

ध्यान में अमुक समय हो गया, इसलिए पूरा करना ऐसा नहीं रखना चाहिए। जब-जब ध्यान में रहा जा सकता हो, तब समय के कारण ध्यान छोड़ना नहीं और बाद में उसका उपयोग साधना के बल में करते रहना चाहिए।

('जीवनपगरण' पृ. ४५)

कोई भी कर्म किस हेतु से और किस भाव के साथ मनुष्य करता है, वह उसकी जीवनकक्षा का एक मापलक्षण है। कर्म किये बिना तो चलता ही नहीं है और चलेगा भी नहीं। तो जो कर्म हमारे हिस्से में करने का आवे उस कर्म से और उस कर्म द्वारा जीवन का हेतु सतेज होता रहे, उस प्रकार करना चाहिए। ध्यान, प्रार्थना इत्यादि साधन की तरह, इस प्रकार की आचरण की कला वह भी एक बलवान साधन है। **बहुत-बहुत सीखने का, जानने का और अनुभव करने का कर्म द्वारा भी जीवन में मिलता है, इससे ही मेरी विनती है कि हमें कर्म करते कभी भी ऊबना नहीं। यदि कर्म करते ऊब प्रकट हुई तो वैसा कर्म अनेक गुना ज्यादा हमें चिपकता है और सटता है। इससे जो कर्म करें वह श्रीप्रभुप्रीत्यर्थ करने का हेतु साथ रखकर करें, और वैसा हेतु फले उस रीति से और उस भाव से करें, इतना खास लक्ष में रखना है।**

ध्यान में कोई कल्पना आवे तो उसमें हमें कोई लक्ष नहीं देना है और रखना नहीं है। ध्यान में तो स्थिरभाव से ही रहा करना है। उलटा, जो प्रकट हो, उसका उस समय पर तीव्र इनकार करना है। और ज्यादा से ज्यादा तो उसे तटस्थता से, समता से देखा करना है, किन्तु अब तो पहले के पत्र में लिखा है वैसे शांति, प्रसन्नता, स्थिरता, तटस्थता इत्यादि उत्पन्न न होते हो और इधरउधर होता हो तो ध्यान अकेला न करते नामस्मरण जो उत्तम साधन है, वह करने का चालू रखना।

आप अपना चलाते रहो। अब निरर्थक घुमड़ी चक्कर चढ़ना नहीं है एवं निराशा में डूब जाना भी नहीं है। यदि ''इस जीव'' से अलग हो जाने में आनंद प्रकट होता हो तो वैसा करने के लिए भी संपूर्णरूप से स्वतंत्र हो। कोई किसी से बँधा हुआ नहीं है। ''यह जीव'' तो ''उस'' से बँधा हुआ है और ''उस'' में है और अब वैसे जीवन के अंतरभाव को विस्तार की कला में प्रकट करने का काल

है। इससे उस प्रकार प्रेरित हो सकने का बनता होने से जीवन के हेतु के लिए जो-जो स्वजन अपनेआप प्रभुकृपा से मेरे पास आये हुए हैं, उनमें भी उस भाव से प्रेरित हुआ रहता हूँ सही, किन्तु आप मुक्त हो। कृपा कर के मन को स्थिर करना रखो। यह क्या ? और यह क्या खेल ? उसे जैसा दौड़ने का सुझता है वैसे हम भी क्यों उसके पीछे दौड़ते हैं ? ज्यादा से ज्यादा उसके खेल देखा करें और स्थिर रहो इतनी प्रार्थना है। जो करना है वह कर डालना। फिर उसके विचार उत्पन्न होते हो तो उसमें समाधान करना।

('जीवनदर्शन' पृ. १३४-१३५)

आपको स्वयं अपने स्वयं का तटस्थतापूर्वक निरीक्षण और पृथक्करण साफ-साफ करते रहना चाहिए। हम स्वयं अपने स्वयं का विचार कर सकने के लिए जरूर शक्तिमान हैं। हमें प्रकट होते विचार, वृत्ति, अलग-अलग व्यक्ति के संबंधों के कारण होनेवाले आघात-प्रत्याघात यह सब जैसे जिस प्रकार प्रकट हो, वैसे देखते हुए हमें हमारी अपनी जीवदशा किस प्रकार की है, वह समझ सके ऐसा है। हमारी समझ से तो कोई आगे या पीछे नहीं है। प्रभुकृपा से साथ में ही हैं।

किन्तु सच बात तो यह है कि सब कुछ करते हुए भी उसकी लहर तो दिल में, दिल से जीवंतजागृत रहा करे, दिल को प्रकाशित करे, उस प्रकार की एकाग्रता और हृदय में हृदय से उस संदर्भ की केंद्रितता हमारे में प्रकट हुई होनी चाहिए, वह हमें खास ख्याल में रखना है। कल्पना करो कि ध्यान में अत्यंत एकाग्रता प्रकट हुई, किन्तु उसमें से यदि उठने के बाद हम उसे भूल जाँय और हमारा चलता हुआ प्रवाह रुक जाय, दूसरे बाहर के कामों में लीन हो जाँय, और हमारे महत्त्व के कर्म का भान यदि हम भूल जाँय, तो ध्यान में प्रकट हुई एकाग्रता और केंद्रितता योग्य काम नहीं देते हैं ऐसा समझना है। और उतने अंश में वे कम उपयोग के हैं। अभी उसकी कार्यसाधकता और कौशल्य योग्य प्रकार से सिद्ध हुआ नहीं है ऐसा समझना है। हररोज के कर्मव्यवहार में, संबंध में, संपर्क में इत्यादि इत्यादि में हमारे मनबुद्धि किस-किस भूमिका में विचरते हैं, और रहा करते हैं या तो उसकी चढ़ाउतरी के बीच कितना अंतर रहता है, उस पर से भी ध्यान में प्रकट हुई एकाग्रता और केंद्रितता किस प्रकार की है, वह हमें समझ में आ जायेगा। **ध्यान का हेतु नीरवता विकसित करने का है।** नीरवता कोई ऐसे

के ऐसे प्रकट नहीं होती है। तटस्थता, समता, उसके साथ-साथ अनासक्ति, निराग्रह इत्यादि जीवन में प्रत्यक्षरूप से प्रकट हुआ करे, तब ध्यान का उठाव हमें हररोज के काम में भी उपयोग में आ सकता है।

ध्यान में बैठने का एक हेतु जैसे नीरवता प्रकट करने का है, वैसे उसका दूसरा हेतु नीरवता की स्थिति को हमारे कर्मव्यवहार होते-होते भी नुकसान पहुँचे नहीं और कर्म अपनेआप सहजरूप से हुआ करे, वैसी शक्ति जागृत करने का है। ध्यान से कर के जीवनकक्षा उच्च हो और हमें उसका ज्ञानभान रहे और ऐसे ज्ञानभान की लहर सतत एकसमान सब कुछ करते-करते जीवंतजाग्रत रहा करे, उसके लिए भी ध्यान का साधन उत्तम है। आजकल तो हरकोई सब ध्यान करने बैठ गये दिखते हैं। जैसे व्यापार करने के लिए पूँजी की आवश्यकता बहुत होती है, वैसे **ध्यान के लिए भी उसका आरंभ करने से पहले हमारे मन आदि इंद्रियों में एकाग्रता विकसित हो, वह बहुत जरूरी है। एकाग्रता विकसित किये बिना ध्यान होने की संभावना नहीं है।**

('जीवनदर्शन' पृ. १७-१८)

।। हरिः ॐ ।।

४ - ध्यान में एकाग्रता

आपके साथ स्थूल रूप से ''यह जीव'' वहाँ था और रात को सोने से पहले ध्यान में बैठते, तब ध्यान में और ध्यान में तंद्रा और उसके बाद नींद भी आ जाती। और उस बारे मैंने आपको टोकना भी किया था। ऐसा होना वह तामस और जड़ता का लक्षण है। सुबह ध्यान में बैठते हो, तब भी वह हम पर हावी हो जाती है, अभी भी ध्यान में एकाग्रता प्रकट नहीं होती है, फिर भी वैसी तंद्रा तंद्रा नहीं किन्तु एकाग्रता है, ऐसी भ्रांति हमें मन करायेगा, इसलिए हमें जाग्रत होना है। ध्यान में यदि ऐसी जीवंत एकाग्रता प्रकट होती हो, तो उसमें से तो अत्यंत स्फूर्ति और शक्ति प्रकट होती है। शरीर हलका-हलका हो जाता है। और ध्यान में से प्रकट हुई एकाग्रता की असर मन आदि करणों में भी थोड़ी बहुत प्रकट होती है। ध्यान में प्रकट हुई एकाग्रता की गहरी असर से उतने काल के लिए मन संकल्प-विकल्प करता रुक जाता है। प्राण में आवेश और आवेग प्रकट नहीं होते हैं। एकाग्रता का ऐसा प्रभाव है। ऐसी एकाग्रता होने पर कहीं किसी में हम फँसते नहीं हैं। इससे ध्यान की एकाग्रता में और तंद्रा में बहुत-बहुत फर्क है। तंद्रा वह तो निरा तामस है, और हमारे में तो बहुत-बहुत निरा तामस भरा हुआ है कि जिस तामस का छोर अभी हमें मिला नहीं है। जैसे कुत्ता अपने शरीर पर पानी गिरते ही कैसे पूरा शरीर हिलाकर झाड़कर पानी निकाल डालता है, वैसे ध्यान में तंद्रा प्रकट होते ही हमें शरीर को झाड़कर दिल से दिल में सतेज हो जाना चाहिए। ध्यान में यह एक बड़ा भयस्थान है। नींद आ जाय वह तो फिर भी ठीक, उसका तो पता लगता हैं, किन्तु एक प्रकार की तंद्रा ऐसी आ जाती है कि जिसे आधी अधूरी नींद कह सकते हैं और जिसमें हमारी देहचेतना की दशा में आते हैं वैसे विचार आते नहीं है, इससे साधक को दिखता है कि वह ध्यान की गहरी दशा में है; किन्तु सच्ची रीति से तो वह तंद्रा में पड़ा होता है। ध्यान की एकाग्रता में आंतरिक चेतना की स्फूर्ति सतेज होती है। ध्यान की एकाग्रता की दशा से तो और प्रसन्नता प्रकट होती है। शरीर में प्राणचेतना का संचार अनुभव होता है। मन में सविशेष उत्साह प्रकट हुआ अनुभव होता है। लक्षण से ध्यान की एकाग्रता और तंद्रा का फर्क समझ में आ सकता है।

फिर, आप ध्यान में ''शून्य'' रहने का प्रयास करते हो (हालाँकि विचार तो आते ही हैं फिर भी) वह प्रयत्न अभी तो योग्य प्रकार का नहीं है। ध्यान की

वह तो अंतिम से अंतिम कक्षा है। **शून्य अर्थात् कुछ कोई नकारात्मक भाव नहीं है। शून्य की तो एक ऐसी कक्षा है कि जिसमें कोई कुछ न होते हुए भी ऐसा ''एक'' कुछ प्रकट होता है कि जिसमें से दूसरा सब प्रकट हो सकता है।** हम अभी जिस प्रकार की जीवदशा में हैं, उसके लिए उस प्रकार का ध्यान होना कभी भी संभव नहीं है। इसलिये अभी तो उसके बदले ध्यान में एक ही भाव धारण करने का प्रयास कर के देखो। जहाँ तक हमारी जीवदशा है, वहाँ तक अव्यक्त को ग्रहण करना बहुत-बहुत कठिन है। साकार को ग्रहण करना सरल और रचनात्मक है। इससे हमने जीवन में जैसा होने का दिल में दहकता आदर्श रखा हो, उसका सतत ध्यान रखते रहना चाहिए। ध्यान में एक प्रकार का ही भाव जीवंत प्रकट रहा करे ऐसा अभ्यास प्रारंभ के समय के लिए उत्तम है। उसके बाद सद्गुरु के हृदय पर प्रेमभक्तिपूर्वक लक्ष रखकर उसमें ज्ञानपूर्वक लय हो जाना वह अभ्यास भी जरूरी है। **ध्यान में हों उस समय एवं बाकी के प्रतिदन के कर्मव्यवहार में और समय में अनेक प्रकार के विचारों की जो परंपरा जागे, उसमें मिश्रित न होने का जाग्रत प्रयत्न करते रहना, वह भी एक प्रकार का ध्यान है। प्रार्थना भी एक प्रकार का भावात्मक ध्यान है।** ध्यान के उपयोग से नीरवता हमें प्राप्त करना है। इससे जीवन के प्रतिदिन के कर्मव्यवहार में और आंतरिक करणों की प्रवृत्ति में जागृतिपूर्वक जितनी शांति और प्रसन्नता रख सकेंगे, उतने प्रमाण में ध्यान में हम मग्न होते जानेवाले हैं, यह ख्याल में रखनाजी।

ध्यान की योग्यता प्रकट करने के लिए प्रतिदिन सभी व्यवहार में हमें जाग्रत रहा करना है। मन में नि:संग जितना रह सके उतना उत्तम। **नि:संग का स्थूल अर्थ तो अंत:करण के प्राकृत्तिक तत्त्वों का अपरिग्रह है, वह तो लिखा है।** ध्यान में सच्ची एकाग्रता प्रकट करनी हो तो दिन के अन्य समय में हो सके उतने शांत, निस्तरंग, निर्विकारी, अनासक्त, निर्मम हमें बनना है। **बाहर की किसी भी घटना के आघात से किसी प्रकार की अशांति न हो, वह भी नि:संग का अर्थ है।** प्रारंभ में ऐसा भी होता है कि अकेले-अकेले रहा करने में एक प्रकार का भयानक स्वप्न जैसा लगने लगता है। कहीं कुछ अच्छा लगता नहीं है। इसे नि:संग कह ही नहीं सकते। **नि:संग अर्थात् हम अकेले रहते हों, और किसीको मिलते करते न हों, किसीके साथ बात न करते हो, उसका नाम नि:संग नहीं है। सच्ची नि:संगता जब प्रकट होती है, तब तो**

मनादिकरण अपने प्राकृतिक धर्मों के व्यवहार में से मुक्ति प्राप्त करते हैं और दिल में प्रसन्नता का स्फुरण होता रहता है।

जब ज्यादा बोझ जैसा लगे तब ''इस'' मार्ग की बातें जिस किसीको इस बाबत में रस हो और हमारे साथ प्रेमभाव हो, उसके पास जाकर सत्संग की बातें दिल से करोगे तो बोझ हलका हो जायेगा। मन फिर से आनंदित हो जायेगा, स्फूर्ति से युक्त होगा। ऐसा अनुभव तो ''उसकी'' कृपा से आपको करवाया है। **जो कुछ अनुभव हो और उसके कारण मन की स्थिति बदल जाय तो वह अनुभव भी सद्गुरु है।**

Frankness यानी कि दिल का खुलापन वह भी ''इस'' मार्ग का एक सब से बलवान से बलवान साधन है। प्रभुकृपा से हमारे बीच का संबंध बहुत समय से है, इससे खुले रहने की सरलता आपको अच्छी तरह से मिली है। फिर भी ऐसा खुलापन और अब जिस प्रकार का खुलापन होनेवाला है, उसमें फर्क है, वह तो आप समझोगे। मित्र के प्रकार का खुलापन वह आधाररूप जरूर हो सकता है। **सच्ची रीति से खुलापन तो मनादिकरणों के प्राकृतिक धर्मों का पिघल जाना है।**

अभी धारणा तो ध्यान में भी टिकती नहीं है। जपयज्ञ की धारणा में बहुत तरह से भंग पड़ता है। सिर्फ आनंदवृत्ति रहती है, किन्तु उस वृत्ति का सदुपयोग होता नहीं है। ऐसी प्रकट होनेवाली आनंदवृत्ति के प्रवाह का ज्ञानपूर्वक उपयोग जप की धारणा गहरे भाव से हो, उस तरह और उस दिशा में करना है। ऐसी ध्यान की प्रकट होनेवाली आनंदवृत्ति को इधरउधर खर्च करना नहीं है। बिखर जाने देना नहीं है।

रात को सोते समय और सुबह के ध्यान के समय पर सद्गुरु को बहुत हृदय से, प्रेमभक्ति से, आनंद की उमंग से याद करेंगे तो आनंद प्रकट होगा। सूखी-सूखी स्मृति किस काम की ? दिल में आनंद की उमंग भरी-भरी हो और बलिहारी जानेवाला प्रेमभाव प्रकट हो तो भयानक स्वप्न तो एकदम भाग जायेंगे **''यह'' मार्ग तो है प्रेम का मार्ग।** इसमें तो प्रेमभाव के महत्त्व का मूल्यांकन हो ही नहीं सकता। हृदय के ऐसे भाव से सद्गुरु के दिल में दिल पिरोना साधक से यदि हो सके तो वह अत्यंत श्रेयस्कर और आवश्यक है।

('जीवनसंशोधन' पृ. ८१—८६)

।। हरि:ॐ ।।

५ - ध्यान में विचारों की श्रृंखला

ध्यान में जो विचार आवे वह तो, नदी के तट पर हम बैठे हों और जैसे नीचे पानी बहता जाता देखते रहते हैं, वैसे विचारों को साक्षीभाव से सिर्फ देखा करना हे। उदाहरण के लिए आपको किसी व्यक्ति या घटना के बाबत एक विचार प्रकट हुआ, तो वह भले प्रकट हुआ। किन्तु उसके बाद उसके आनुषंगिक Corresponding, उसके साथ जुड़े हुए विचार प्रकट हो तो समझना कि उस व्यक्ति या विचार की बाबत में हमें आसक्ति है और हमने उसमें रस लिया कहा जायेगा। एक विचार उड़ता-उड़ता अलग एक तितर-बितर छोटा बादल तेजी से आकर चला जाय वैसे आकर उड़ जाय या निकल जाय, तो तो कोई एतराज नहीं है। किन्तु उस विचार में रसपूर्वक हिस्सा न लेवे और गाढ़ बादल के पीछे दूसरे बादल दौड़कर आते हैं, उस प्रकार वह हमारे अंत:करण के आकाश को घेर न ले वह हमें देखना है। एक ही विचार आकर निकल जाय वैसा ज्ञानपूर्वक का अभ्यास विकसित करना है। विचार किये बिना कर्म कैसे हो सकेगा, ऐसा शायद आप पूछे, तो विचार की श्रृंखला की परंपरा न प्रकट हो उस प्रकार का ज्ञानयुक्त सतत अभ्यास जब प्रकट होता है, तब कर्मयोग योग्य भाव से उत्तम से उत्तम रीति से एकाएक हो सके वैसी भागवती प्रेरणा या अंत:स्फुरणा मिला करती है। उस वक्त वह कर्म करने के लिए एक के बाद एक विचार के कदम की आवश्यकता उत्पन्न नहीं होती है। उस समय में कर्म करने के लिए विचार प्रकट होता ही है ऐसा कुछ नहीं होता। विचार का भाव प्रकट होकर वह भाव कर्म में प्रेरित होकर कर्म को परिपूर्ण कराता है। और इस प्रकार का जीवंत अभ्यास होने पर उसके बाद विचारों की श्रृंखला प्रकट होकर विलीन हो जाती है। इसलिए जाग्रत रहकर हमें जो करते रहना है वह यह। एक-दो विचार प्रकट होते ही तुरंत एकदम जाग्रत हो जाँय और उसकी श्रृंखला उत्पन्न होने लगे उतने में ही उससे किस प्रकार रुक जावे उसके बारे में विशेष सावधानी रखें।

ध्यान का कोई एक ही प्रकार नहीं हो सकता है। पहले आपको लिखा है वैसे हमारे जीवन की भूमिका में अटूटरूप से एकाग्रता का भाव (और नहीं कि अमुक पलों में) प्रकट हुए बिना ध्यान होना संभव नहीं है, और ध्यान यानी क्या उसका भी हमें योग्य ख्याल प्रकट हुआ होता नहीं है। ध्यान किसका, क्यों, किस

प्रकार करना उन सब की समझ यथायोग्य रूप से बहुत कम लोगों को प्रकट होती है। आजकल तो कोई भी आँखें बंद कर के बैठ जाते हैं और उसे ध्यान कहते होते हैं। **ध्यान के लिए भी अमुक निश्चित समय, निश्चित स्थल और मुख्य तो निश्चित प्रकार की अखंड़ एकाग्रतायुक्त मनोदशा, यह सब बहुत-बहुत आवश्यक है। एक सप्ताह में एक बार उस प्रकार का ध्यान रखना कि जो विचार उस वक्त आवे, उसे आने देना, और उसमें रस लिए बिना साक्षीभाव से रहने का अभ्यास विकसित करना। जो कुछ आवे—अच्छा या बुरा—उसे प्रेमभक्तिभाव से, हेतु के ज्ञानभान के साथ, समर्पण किया करना। इस प्रकार उस-उस विचार के समर्पण की अटूट श्रृंखला चलती रहे, वह एक प्रकार का ध्यान।** फिर, एक ध्यान इस प्रकार का भी होता है कि जिसमें हमारे अपने सद्गुरु के हृदय के संदर्भ में वह एकाग्र और केंद्रित हुआ रहा करे और वैसा भाव तब एकसा अटूट जीवंतजाग्रत प्रकट हुआ रहा करे। फिर, एक ध्यान शून्यत्व का भी हो सकता है। किन्तु वह शून्यत्व फिर सिर्फ रूखा और अभावात्मक तो नहीं हो सकता। वह शून्यावकाश यानी कुछ भी नहीं ऐसा नहीं, उसमें भी एक प्रकार का गूढ़ भाव व्याप्त रहा हुआ है।

ध्यान से सिर्फ एकाग्रता या केंद्रितता प्रकट होती है, इतना ही नहीं, किन्तु तटस्थता, समता, प्रसन्नता इत्यादि भी प्रकट होते हैं और उसका उपयोग रोज़-ब-रोज़ के जीवन के व्यवहारवर्तन में समझ-समझकर करते रहना है। अर्थात् हम जो कुछ किया करें, वह शांति से, प्रसन्नता से, समता से, निरपेक्षता से करते रहें और ऐसा अभ्यास यदि ज्ञानपूर्वक विकसित किया करने का रखा करें तो ध्यान में ज्यादा से ज्यादा गहरे उतर जाने का बनता होता है। यह तो लोग सुबह में आधा पौना घंटा या एक घंटा ध्यान करे यानी कि मानो सब पूर्ण हो गया। किन्तु वह योग्य नहीं माना जा सकता है। ध्यान से मिलनेवाले परिणाम को हम व्यवहारवर्तन में प्रकट करते रहें, एवम् ध्यान से मिलनेवाली भावना के प्रकार को भी व्यवहारवर्तन में भावपूर्वक प्रकट करते रहें तो उससे भी एक प्रकार की ध्यान की अखंडता प्रकट रहा करती है। ध्यान में भावात्मक शून्यावकाश का अनुभव होना वह तो माँग लेता है दीर्घकाल का सद्भावपूर्वक सेवन किया हुआ निरंतर अभ्यास।

('जीवनदर्शन' पृ. ७३—७६)

।। हरि:ॐ ।।

६ - प्रार्थना - ध्यान का प्रकार

फिर, एक प्रकार का ध्यान उस प्रकार भी हो सकता है, जिसमें प्रार्थना की भावना का एकसा जीवंतजाग्रत अनुसंधान दिल में दिल से प्रकट रहा करे। प्रार्थना का भाव प्रार्थना के काव्य में कोई एकाध पंक्ति में प्रकट हुआ हो और उसके रटन से जो भाव प्रकट हो, वह भाव फिर अंत:करण के मनादिकरणों में सराबोर हो जाय, तरबतर हो जाय या उसे पचा लेवे, तो उसे भी ध्यान कह सकते हैं। फिर, अमुक प्रकट हुए भावात्मक शब्द, श्लोक या प्रार्थना या भजन से या अलग-अलग प्रसंगों पर अलग-अलग निमित्त कारणों से प्रार्थना करने का दिल हो और ऐसे वक्त में चाहे प्रार्थना के अनेक शब्द उत्पन्न हो और वाक्यों की चाहे श्रृंखला चला करे, फिर भी उस वक्त तो प्रार्थना के प्रकार का एक गहरा भाव दिल में दिल से जीवंतजाग्रत यदि रहा करता हो, और वैसा भाव किसी भनोभाव के परिणाम से उत्पन्न भले हुआ हो, किन्तु उसके कारण हृदय गीला-गीला गद्‌गद हो जाता हो और प्रार्थना होती ही रहती हो, तो उस प्रकार का जो एक अखंड अटूट भाव दिल में जमा हुआ रहा करता हो, वह भी एक प्रकार का ध्यान है। दिल में दिल से एकाग्रता से प्रकट हुई प्रार्थना वह भी एक प्रकार का ध्यान है। प्रार्थना में दिल की भावना का तत्त्व विशेष प्रकट हुआ होने से उससे जो भाव प्रकट होता है, उस भाव की तीव्रता के परिणाम से एकाग्रता और केंद्रितता विकसित होती जाती है, ऐसी एकाग्रता और केन्द्रितता जो ध्यान से विकसित होती है, वह प्रार्थना के वैसे भाव से भी विकसित होती है, इससे प्रार्थना से ऐसा जो हुआ करे, वह भी ध्यान का एक प्रकार माना जा सकता है।

जीवनविकास का जो आतुरतापूर्वक रटन प्रकट होता है, उस रटन को हमेशा चैतन्यशील रखने के लिए ध्यान या प्रार्थना के साधन की अखंडता जरूरी है। ध्यान से या प्रार्थना से उस प्रकार के आतुरतापूर्वक रटन को सजीव रखा जा सकता है और वह ज्यादा से ज्यादा दहकता रहा करता है। साधना के वैसे ज्ञानभक्तिपूर्वक के अभ्यास से ऐसा जो परिणाम प्राप्त होता है, वह कोई थोड़ा नहीं है, और अंत में तो ऐसी दहकती अग्नि की ज्वाला जैसा आतुरतापूर्वक रटन ही हमें सतत एकसा जीवनविकास के प्रवाह में आकर्षित कर-कर के गतिशील रखा करता है। किन्तु हमें आतुरतापूर्वक रटन और भावना का फर्क समझना जरूरी है। मैंने साधना के बारे में कुछ भी साहित्य पढ़ा नहीं है, इससे उस योग्य

भाव के लिए कौनसा योग्य शब्द उपयोग करना, वह मैं जानता नहीं हूँ। इसलिए उस भाव के योग्य ऐसा शब्द मैं उपयोग नहीं कर सकता हूँ। यह मुझे मालूम है।

आतुरतापूर्वक का रटन निम्नगामी होता है और ऊर्ध्वगामी भी होता है। किन्तु भावना का वैसा होता नहीं है। भावना तो ऊर्ध्वगामी ही होती है। ऐसी भावना को सुलगती-जलती रखने के लिए इस प्रकार के साधन के अभ्यास की बहुत-बहुत आवश्यकता। साधन के अभ्यास में से जो भाव प्रकट होता है, उस भाव की प्रेरणा जीवन-व्यवहारवर्तन में उपयोग में आवे, तब वह सच्ची कक्षा की प्रकट हुई है ऐसा मानना। यानी कि ध्यान के साधन में से प्रकट हुए एकाग्रता, केंद्रितता, समता, शांति, प्रसन्नता इत्यादि इत्यादि को हम समझ-समझकर हररोज व्यवहारवर्तन में उपयोग करते रहेंगे तो उसकी ऐसी शक्ति अनेक गुना प्रकट होनेवाली है। फिर, ध्यान पूरा होने के बाद जो एक प्रकार की मस्ती रहती है, उस मस्ती का उपयोग हृदय पर लक्ष रखकर भावात्मक स्मरण करते रहने में करें तो उसका जोश उपयोग में ज्यादा आ जाता है।

इस प्रकार साधन के अभ्यास से प्रकट हुए परिणाम का उपयोग होते-होते वही साधन के अभ्यास का भाव व्यवहारवर्तन में भी अखंडरूप से प्रकट हुआ रहा करता है। यों ध्यान, प्रार्थना, त्राटक, स्मरण इत्यादि साधन के अभ्यास के भाव को हम जैसे-जैसे उसे वर्तनकला में उपयोग करते जायेंगे, वैसे-वैसे वैसे भाव की कला विशेष खिलनेवाली है। अरे! किसी भी प्रकार के ''अच्छे'' समझे जाते या ''बुरे'' माने जाते मनोभाव इत्यादि के अंत:करण में उठते हरएक प्रवाह का सदुपयोग एकाग्रता और केंद्रितता प्रकट करे उस प्रकार करते रहने का है। *''साधु बैठा जपे और जो आवे वह खपे''* उस मुहावरे का अर्थ तो नकारात्मक है, किन्तु हमें उसे सकारात्मक अर्थ में लेना है। हर किसीका साधना के अभ्यास के भाव में उपयोग करते रहे, वह किस प्रकार विशेष और विशेष बलशाली होकर प्रकट होता रहे और हमें तना हुआ रखकर बैठावे, वही एकमात्र हमें तो सच्चा उपयोगी है। फिर तो किसी भी प्रवृत्ति में हम चाहे हों तो भी वहाँ-वहाँ से हमें भगवान का भाव ही मिलते रहनेवाला है, वह निश्चित समझनाजी।

''इस जीव'' पर आपको जब दिल में दिल से भाव हो, तब आप कविता इत्यादि करना नहीं , क्योंकि उससे प्रकट हुई भावना को बाहर बह जाने के लिए एक Outlet हम बना देते हैं और उस प्रकार वह पानी बाहर बह जाता है। किन्तु

हमें तो ऐसे प्रकट होते भावना के प्रवाह को अंत:करण के बाग के फलफूल के क्यारे और पौधों को पीलाना चाहिए। उसे कविता इत्यादि द्वारा बाहर नहीं बह जाने दे सकते हैं। प्रेमभाव काव्य द्वारा व्यक्त होगा तो ही अच्छा लगेगा ऐसा कुछ थोड़ा ही है ?

('जीवनदर्शन' पृ. ७७—८०)

आपको मित्र, सगे-संबंधी इत्यादि के साथ बातें करते हुए अंदर से जप कैसा चलता है वैसी परीक्षा लेने का मन हो तो वैसा जरूर करना। जैसे-तैसे कर के प्रेम से, भाव से, उसे दृढ़ करने में लग जाना और किसी से ठगे जाना नहीं। जो कुछ करो, वह सर्व प्रकार से विचार कर के करें। **हमारा केन्द्रबिन्दु दुनिया में नहीं, किन्तु हमारे में है।** उसका सतत भान हमें रखना है। हमारी दृष्टि हमारे में रखनी है। हमें तो हमारा जो भी कुछ प्रेमभाव से करना है और उसमें संतोष मानना है। दूसरे क्या करते हैं, उसकी कभी परवाह या विचार भी न करने की आदत ड़ाले। वही हमारे लिए अच्छा है।

।। हरि:ॐ ।।

७ - ध्यान में एकाकारपन

१. जब ध्यान में एकाग्रता होती है, तब सही प्रकार से तो मन, बुद्धि, चित्त-सभी लय हो जाते हैं और उसका सुमेल हो जाता है। ध्यान के प्रारंभ में आपको चित्त को-लक्ष को हृदय पर रखना होगा, किन्तु एकाग्रता होने पर तो वह सब मिल जाता हैं।

२. अत्यंत लंबे समय के बाद दो स्नेही-प्रेमी-जनों के मिलाप के समय पर दोनों के दिल में प्रेमोर्मि स्फुरित होती है, तब उसकी तीव्र भावना का जोश इतना ज्यादा उत्पन्न होता है कि उस मिलाप के पहले चाहे जितने गंभीर विचार भी कहीं अदृश्य हो जाते हैं जैसे थे ही नहीं। और उसी तीव्र ऊर्मि के कारण हमें तब प्रेम का रोमांच होता है और उसका असर ज्ञानतंतु पर होता है, क्योंकि मनोभाव की तब बाढ़ आई होती है। उसके जैसा ही लीनता या एकाग्रता का है। वह सुमेल जब होता है, तब हमारे अंदर किसी और प्रकार का चेतन जाग्रत होता है, उसका जोश सब जगह प्रसारित होता है।

३. ध्यान के समय शुरूआत में तो हमारा लक्ष हृदय पर रखना है। वैसा करते-करते यदि विचारों का संपूर्ण लय हो जायेगा और मन, चित्त एवम् हमारे संस्कारों इत्यादि से हम अलग हो जाँय ऐसी blankness (शून्यता या खालीपन) वह सब में आ गई होगी तो तो हमें कोई खोज करने की रहेगी ही नहीं। जो कुछ असल स्वरूप में हम हैं, वही अपनेआप सहज रीति से वहाँ ही है और वहीं अनुभव होगा। हम सब को जो टेढ़ा रंग चढ़ा हुआ है और जिसके कारण दृष्टि में अलग-अलग स्वरूप दिखते हैं, वह रंग उतर जाने के कारण बाद में तो जो असल स्वरूप पड़ा हुआ है वही अपनेआप दिखेगा। उसके लिए तो कुछ भी मेहनत नहीं करना है। जो कुछ मेहनत करना है, वह ऊपर कहे हुए उस-उस अंगों के साथ करना है। Physical heart (स्थूल शरीर का हृदय) और उस Heart (सूक्ष्म हृदय) के बीच संबंध होगा या नहीं उसका मुझे तो कोई ज्ञान नहीं है। भगवान का नाम लेने का जानता हूँ। ज्यादा दूसरी कोई सूझ-बूझ नहीं है। योगशास्त्र पढ़े नहीं हैं। आपको वह सब जानना हो तो कोई जानकार पंडित को पूछना चाहिए। हमें तो अनुभव के साथ काम करना है। उससे काम हो गया तो गंगा नाहे। गींजना वह तो डोकटर या विद्वान का काम। हम तो रस लेना

जानते हैं। उसका अर्थ ऐसा नहीं कि आपको जो जानना पसंद हो, वह आप मुझे न पूछे, किन्तु मैं जो जानता होऊँगा, वह आपको बताउँगा, बाकी ऐसा कुछ मैं नहीं जानता हूँ। ऐसा ज्यादा पढ़ा नहीं है। अनुभव में तो मैंने आपको बताया था, वहाँ से (शरीर के उस भाग से) भाव उत्पन्न होता हो ऐसा लगता है।

जहाँ तक हम समझपूर्वक और ज्ञानपूर्वक मन से पर होकर विचार नहीं करेंगे, वहाँ तक हमें कोई लाभ नहीं होगा। इसलिए हमें हो सके उतना मन से सोचने का कम कर देना चाहिए। ध्यान या प्रार्थना के सिवा के वक्त में भी हमें मन को अभ्यास के लिए पाँच-पाँच मिनट (अरे! शुरूआत में दोतीन मिनट) बिलकुल शांत और खाली (blank) रखने का प्रयत्न करना चाहिए और बाद में भी जो विचार आते हो (न आते हो तो अच्छा, किन्तु वह कठिन है) उसे अपनेआप आने न देना, किन्तु हमें ही मन को कहना है कि ''चलो, अब तुम्हें जितने विचार करना हो, उतने कर लो।'' तब उसे संपूर्ण स्वतंत्रता देना। किन्तु हमें तब उन विचारों के साथ मिश्रित होना नहीं है और जरा भी रस लिए बिना, तटस्थ भाव से, साक्षी रूप से, सब ध्यान से देखते रहना है। बाद में उसका हमें पृथक्करण करना और क्या योग्य था और क्या नहीं था उसका विचार करना और उस प्रकार मन को बाद में समझाना। यह अभ्यास हम मन से पर हैं, ऐसी स्थिति-दशा-कक्षा को पाने के लिए जरूरी है। मन हरएक वस्तु हमारी इच्छानुसार करे और उसके मार्गदर्शन के अनुसार हम न करें, वह जाग्रत रहकर देखते रहने की बहुत आवश्यकता रहती है। मन के भेद और खेल भारी हैं। किसी न किसी प्रकार से वह हमें अंधेरे में रखा करता है।

('जीवनपगरण' पृ. ८०—८३)

ध्यान से हमें ज्यादा से ज्यादा उत्साह और आनंद मिलता है या नहीं उसका अनुभव करते रहना चाहिए। तेली के बैल की तरह घानी की लीक में हमें सब नहीं करते रहना है। आप तो व्यापारी हो, इससे वह वृत्ति आप में खिली हुई है, तो उसका वहाँ उपयोग करनाजी।

('जीवनपगरण' पृ. ४७)

।। हरिः ॐ ।।

८ - ध्यान में श्वासोच्छ्वास

१. ध्यान में स्वाभाविक रीति से श्वासोच्छ्वास मंद होते जायेंगे और आखिर में तो बिलकुल शांतरूप से चलेंगे। यदि ध्यान हम योग्यरूप से करते होंगे तो प्राणायाम के नियमों का अपनेआप उसमें पालन होता जायेगा, किन्तु आखिर में तो श्वासोच्छ्वास बिलकुल लय हो जाने जैसी स्थिति का हो जायेगा।

२. ध्यान में झनझनाहट होती है, वह गलत नहीं है। गरमी के लिए एरंडी का तेल घीसना शुरू किया? झनझनाहट इत्यादि जो होता हो, उसे होने दो। उसकी परवाह करना नहीं या चित्त को ध्यान के समय उस तरफ नहीं जाने देना।

३. ध्यान के वक्त ध्यान ही। प्रार्थना करने का मन हो, तब प्रार्थना। जो करते हों, उसके भाव को ही प्रधानरूप से जुड़े रहना। एक में दूसरे को घूसने नहीं दे सकते।

४. ध्यानावस्था छोड़ने की इच्छा न हो, (उतनी लीनता उसमें हो गई हो) तो दूसरे कार्यक्रम को जाने देना। क्योंकि हमारे सभी कार्यक्रम ध्यान की वृत्ति को गति देने के लिए ही है। जिस समय कार्यक्रम हमारी वृत्ति को बाधक बने, तब कार्यक्रम का त्याग कर देना है। बाद में तो, अंत में तो, जाग्रत समाधानवृत्ति हो जाने के बाद, सब काम में हम हमारा काम (साधना) करते हो जा सकेंगे। कोई कार्यक्रम हमारी वृत्ति की गति को बढ़ाने की अपेक्षा ज्यादा महत्त्व का नहीं है। हाँ, ऐसा कार्यक्रम हो कि जो न करें तो हमारी वृत्ति को आघात लगे तो वह कार्यक्रम नहीं छोड़ना चाहिए।

५. वृत्ति का मूल विचार करते-करते हाथ लगता है। एक में से दूसरे में, दूसरे से तीसरे में ऐसे उतरते जाना तो मूल का पता लगेगा।

६. जो कोई प्रयत्न करता है, उसे उसकी भूल तुरंत समझ में आ जाती है। भगवान की कृपा ही उसे जो कुछ करना चाहिए वह करवाती है।

।। हरि:ॐ ।।

९ - ध्यान के लिए समयअवधि

ध्यान का समय तीन घंटे तक ले जाना। वह किस प्रकार करना वह काम आपका है। ध्यान में जहाँ तक ज्यादा रह सके वहाँ तक रहना। दूसरा वक्त (दूसरे काम के लिए) न मिले तो कोई हर्ज नहीं। आप कहाँ किसी से बँधे हुए हो ? हमें काम करने का तो है ही, किन्तु जैसे कोई वैज्ञानिक एक प्रयोग करने का प्रयत्न करता है, तब पहले तो उसीके पीछे सतत प्रयत्न करता रहता है और उसे जब सफलता मिलती है, उसके बाद उसकी Laboratory (प्रयोगशाला) में वह जब मर्जी हो, तब जाता है ऐसा ही हमारा है।

''स्मरण करते स्मरण करते होना एक ध्यान''

मेरी तो यह रीति है। ध्यान में जाते वक्त जप पर भार नहीं रखना है। हलका उपवस्त्र हमने ओढ़ा हो और हवा आने पर जैसे वह अपनेआप उड़ जाता है, वैसे ध्यान में जाने में जप मदद करेगा और लीन होते ही वह बंद हुआ है या नहीं, वह हमें पता भले न रहे। वह पता लगाने के लिए उस पर चित्त का लक्ष ले जाने की जरूर नहीं है, किन्तु चित्त का लक्ष तो जब पूरी लीनता अनुभव करेगा, तब अंदर की जो Consciousness है, चैतन्य है, वह अनुभव करने में रखना है। आपको थोड़े समय के बाद उस चेतनाशक्ति का धुँधला अनुभव भगवान की कृपा होगी तो होगा, किन्तु आनंद से वर्तन करते जाना है।

ध्यान में से छूटने के बाद जो मस्ती रहा करती है, उससे जप, स्मरणशक्ति का भाव बहुत गहरा हृदयस्थ कर के बढ़ाते जाना, वह जो होता है, (मस्ती) वह तो फायदे का धन है, उसे तो पूँजी बढ़ाने में ही उपयोग में लेना है। आपको भविष्य में इसमें ही रस आवे तो कोई भी चिंता किये बिना मु... भाई की रजा ले कर देखें या दो एक महीने की संपूर्ण छुट्टी पा लोगे। यदि पूरा दिन इसमें बिता सकते हो ऐसा लगता हो और बहुत तमन्ना उसमें रह सकती हो तो ही।

जब ध्यान में न हों, तब जप से जुड़े रहना। किन्तु ध्यान में तो किसीका आग्रह रखना नहीं है; हालाँकि शुरूआत में ध्यान में जाते-जाते 'हरि:ॐ' का स्मरण होने देना, किन्तु वह भी उस पर झुकाव रखे बिना, भार रखे बिना, इससे आप जो चाहते हो वैसा ही होगा।

आप लिखते हो कि ''हृदय पर एकाग्रता से ध्यान धरकर blankness

(खालीपन) रखने से मुझे तुरंत मस्ती आती है और विचार चले जाते हैं या कम हो जाते हैं और नवीन प्रकार के आनंद की झनझनाहत पूरे शरीर में फैल जाती है।'' वह सच है, किन्तु उससे संतोष मानना नहीं। जो-जो अनुभव होते हो, वह बताते रहना, किन्तु किसी कोई वृत्ति में आनंद लेकर उसको खर्च नहीं करना है। जो कुछ आनंद की वृत्ति हो, मस्ती चढ़े या नशा चढ़े तो उस सब से हमारे मुख्य साधन को गति देना है, वह ध्यान में रखना । वह जो कुछ मिले या मिलेगा उसे यदि गलत तरीके से खर्च कर दिया तो फिर दिवाला निकालने का समय आयेगा वह जानना। किसी भी कोई भी वृत्ति में संतोष नहीं मानना है।

अब एक दूसरी बात। आप लिखते हो कि '' blankness रखने से इत्यादि'' किन्तु Blankness is a state which can be experienced by going into meditation or is a state which can be brought about by mind control ध्यान में जाने से अनुभव हो सकता है या मनोनिग्रह से प्राप्त की जा सके वैसी एक प्रकार की स्थिति वह विचारशून्यता।

मन पर के संयम के कारण blankness विचारशून्यता ला सकते हैं। उसके बाद यदि ध्यान में जा सके तो ध्यान सुंदर होगा ही; और वह पहले की स्थिति में यानी कि उतना और ऐसा काबू विकसित न हुआ हो, उस वक्त blankness की स्थिति ध्यान में जाने से उत्पन्न हो सकती है। इसलिए उस बाबत में किसी भी भ्रम में मत रहना। कुछ भी अर्धसत्य का स्वीकार मत करना। जो कुछ अनुभव हो, उसका हमें ज्ञानपूर्वक अनुभव करना है।

('जीवनपगरण' पृ. ४९—५४)

हररोज ध्यान के वक्त मन को हलका ही रखना, जैसे बिलकुल बारीक उपवस्त्र या दुपट्टा हो और जरासी हवा आते ही उड़ जाय वैसे; पानी में तैरता फूल हो वैसे। मन को हमें दिन के अन्य समय में भी इसी ही प्रकार रखना है।

सोते-सोते ध्यान करते हो, उस समय हरवक्त पाँव के तलवे से कुछ संचार होता हो ऐसा अनुभव होता है ? या कभी दूसरे स्थल से भी होता है ?

आप लिखते हो कि एक दिन ध्यान में एक घंटा होते हुए भी लीनता आई ही नहीं। अन्य संजोग अनुकूल थे, फिर भी। तो उसका अर्थ तो यह कि शरीर में कोई भी विक्रिया उस दिन थी ? किन्तु अभी उतने दिन की बात आपको किस प्रकार याद भी रहेगी ? विचार आते हैं और अपनेआप वापस चले जाते हैं और

नहीं टिकते यह सब अच्छा है; किन्तु उससे उलटी परिस्थिति आवे तो भी हमें तो हमारे में ही ज्यादा मस्ती में रहा करना है।

विचार या ख्याल सिर्फ आया हो, और यदि वह कुछ देर तक टिका तो अभ्यास के लिए पड़ी हुई आदत से उसमें गहराई, भाव, जोश आ जाते हैं; इससे वह विचार शक्तिशाली होता है। जिस विचार के पीछे गति है, वह तो उठायेगा ही। इसलिए ही हमारे में जागे हुए बल को हमारे में ही वापस और वापस हमें डालते रहना हैं, और ऐसे दुगुना-तीगुना करते रहना है।

हमारा सहवास बढ़े तो ज्यादा निकटता जरूर विकसित की जा सकती है, किन्तु वह तो अपनेआप होती रहेगी। यदि शरीर से पास रहा करने से ही भाव की वृद्धि होती होगी तो तो वह भाव की मर्यादा अत्यंत ही कम हो जायेगी। चित्त, मन, प्राण इत्यादि के स्थूल को ही पकड़ने की जो आदत हमारे में पड़ी हुई है, उसके कारण हमारे में ऐसा दिल रहा करता है। किन्तु हमें ऐसा कोई विचार नहीं करना है। जिस समय जो होगा, उस अनुसार उसकी कृपा से बरताव करेंगे और हम शरणभाव में रहने करने का प्रेमभक्तियुक्त सतत प्रयत्न करते रहेंगे तो वही भगवान हमें जिसकी-जिसकी जैसी आवश्यकता होगी, वह सब देंगे ही और जो सिखाने का होगा वह सुझायेंगे ही।

।। हरिः ॐ ।।

१० - ध्यान से भावनावृद्धि

१. जिस भावना को हमें बढ़ाना है और जिसकी जरूरत हमें लगती हो वह भावना भी ध्यान से बढ़ सकती है। किन्तु उसके कोई hard and fast चौखट में बंद हो जाय ऐसे दृढ़ नियम नहीं हो सकते। कहाँ तक वह भावना उस प्रकार रखनी वह हरएक व्यक्ति खुद समझ सकता है। हररोज नई-नई भावना रखने से तो कुछ खास फायदा नहीं होगा। उस तरह हमें जो बाधारूप भावना हो उसे sublimate (उसका उच्च परिवर्तन) करने के लिए भी ध्यान का उपयोग हो सकता है। किन्तु ध्यान के सिवा के समय पर उस भावना के ख्याल को उस प्रकार संलग्न न रहना चाहिए कि जिससे हमारे मुख्य काम का (जाप-भाव इत्यादि)वेग -प्रवृत्ति से उसका भार और जागृति बढ़ जाय। उस भावना का असर सिर्फ छाया के लिए रहे और हमें उस बाबत में चिनगारी देता रहे उतना ही।

२. ध्यान के समय लीनता रहे और फिर चली जाय उसका जो अर्थ आप करते हो, वह जो आदत पड़ रही है, वह बराबर है। हमारा प्रयत्न तो ऐसी लीनता एकसी रहा करे उसके लिए ही होना चाहिए। जब-जब वैसा भाव लीनता में कम लगे, तब हृदय में ध्यान देकर उसे प्रज्वलित करने का प्रयत्न करते रहना है। जैसे मन को आगे सरकाये बिना (दिये की बाती का जला हुआ छोर आगे सरकाते न रहे तो वह बढ़ता रहे और दिये का तेज कम होता जाता है, वैसे प्रज्वलित किये बिना) चलेगा नहीं वैसा ही हरएक में हमें समझना है।

३. ध्यान में लीनता हो और उस वक्त हृदय पर का लक्ष खिसक जाय तो और उससे कर के लीनता कम न हो जाय तो भी, लक्ष तो हृदय पर ही रखा रहे तो ज्यादा अच्छा है, और ऐसा प्रयत्न हो, उसमें कुछ भी गलत नहीं है। हालाँकि पहले मैंने लिखा था कि लीनता रहा करे तो लक्ष कहीं भी भले ही हो, किन्तु उस प्रकार करना अब आपके लिए ठीक नहीं है।

४. कल ''उत्तररामचरित'' की बात निकली थी। उसमें दूसरे रस मिश्रित होते हुए भी प्रधानरूप से तो एक ही रस-करुण रस है; उस प्रकार भले जो कुछ भावना सोची हो, किन्तु उसकी गहराई में तो जप ही होता है। वह तो जैसे हमारे श्वासोच्छ्वास चला करते हैं वैसे हो जाना चाहिए। भाव और जप दोनों एकसाथ रख सकते हैं; रखना योग्य भी है।

५. ''आप के प्रति के श्रद्धा, प्रेम एवं तमन्ना, सरलता, निर्दोषता, प्रेम का जोश इत्यादि भाव रखना योग्य है या नहीं ?'' रखो तो कुछ भी नुकसान नहीं है। किन्तु वह श्रद्धा से होना चाहिए। उसके पीछे के भाव का प्रतिघोष प्रेम का ही होना चाहिए। उसके पीछे का जैसा हेतु होगा वैसा ही उसका रूपांतर होगा।

६. जैसे ध्यान में बिलकुल विचार आने न चाहिए, किन्तु वह कुछ एकदम होता नहीं है, किन्तु बहुत अभ्यास के बाद साध्य होता है। पहली पाँच मिनट भले प्रारंभिक तैयारी की रहे, उसका कोई हर्ज नहीं है। आदर्श के अंत को एकदम आखिर में जाकर नहीं पहुँच सकते हैं। उसके लिए तो सतत सावधानीपूर्वक के अभ्यास की जरूरत रहेगी।

७. ''लीनता में जप चला जाता है,'' इससे तब हमारी चेतना की स्थिति मात्र बदल जाती है। ऐसी-ऐसी प्रत्येक चेतना की कक्षा में भी हमें उसमें मिश्रित नहीं होना है। यदि मिश्रित हो जायेंगे तो वहाँ से हमारा विकास रुक जायेगा।

जप तो हरएक हृदय की धड़कन के साथ एकाकार हो जाना चाहिए और हृदय की धड़कन में समा जाना चाहिए। जैसे-जैसे वह स्थिर होता जायेगा और उसमें पर्याप्त भाव आने लगेगा वैसे-वैसे वह हृदय की धड़कन के साथ मिलता हुआ लगा करेगा।

८. भोजन की बाबत में तो अत्यंत खारा, खट्टा या एकदम तीखा न हो तो अच्छा। बिलकुल सरलता से पाचन हो सके वैसा लिया जाय तो अच्छा। सामान्य रीति से सब लोग जैसा खाते हो वैसा अर्थात् हमारे हररोज के भोजन में थोड़ा बहुत ही बदलाव कर लेना हो तो हर्ज नहीं है। **कुछ भी स्वाद की दृष्टि से खाने का रखना नहीं है।**

९. खुराक, वातावरण, संग, अभ्यास, स्थल इत्यादि की असर होती है जरूर, किन्तु मुख्यरूप से तो हमारी ही तमन्ना और जिज्ञासा सही हिस्सा निभाती है, वह जानना। चित्तशुद्धि के लिए निरासक्तभाव से कर्म करते रहना हम रखेंगे तो बहुत फायदा हुआ करेगा। जैसे हम भावपूर्वक आगे बढ़ते जायेंगे वैसे दूसरों में भी उसकी असर आये बिना नहीं रहेगी। बाहर के दूसरे किसी पर हमें कोई महत्ता देनी नहीं है। महत्ता तो हमारे काम में ही देने की है। उसमें जैसे-जैसे ''जीव'' गहराई में उतरता जायेगा, लगन-रस लगते जायेंगे वैसे-वैसे सब अपनेआप हमें जो कुछ समझने का होगा वह समझते जायेंगे।

१०. जप सुंदर और सात्त्विक तो अंदर से चलता रहता हो वही अच्छा, किन्तु जैसे आदर्श को एकदम नहीं पा सकते और कदम-कदम आगे बढ़ सकते हैं वैसे पहले थोड़ा समय जिस रास्ते वहाँ पहुँचने की संभावना लगती हो, उस रास्ते जाना चाहिए। अभी के तबके में जुबान हिलाने का रखोगे तो हर्ज नहीं है, किन्तु वह उसके ध्येय को कभी भी भूले बिना यांत्रिक, जड़ आदत तभी पड़ती है कि जब उसके मूल हेतु को हम भूल चुके होते हैं।

११. हमारे अर्थ में ''घारणा'' वह तो अमुक कर्म में से परिणाम प्राप्त पानेवाली असर है। मुख्य तो हृदय की धड़कन के साथ जप हुआ करे और वह भी बहुत भावावेश के साथ हो, वह जरूर का है। ध्यान के वक्त हमारे चित्त का लक्ष हृदय पर हो, वह जरूरी है, यह जानना।

जगत के व्यवहार में इतने तो प्रश्न उठते हैं कि उन सब का समाधान हम करने बैठे या करने जावे तो हम उसमें और उसमें ही उलझते जायेंगे! किन्तु कोई एक प्रश्न मन में उठे और उसका यदि समाधान ना करें तो वह उलझन वैसे की वैसी ही पड़ी रहेगी। इसलिए जो हो उसका समाधान कर ड़ालने का प्रयास करना, जिससे मन में कुछ भी रहे नहीं। हमें जगत के प्रति बेपरवाह नहीं बनना है एवम् ऐसी वृत्ति भी विकसित करना नहीं है। ऐसा ख्याल भी दिल में नहीं होना चाहिए। किन्तु जो हमारे पास है, वह काम किस प्रकार हम पूरा करते हैं, उसमें ही, उस प्रकार से, उतने प्रमाण में, हम जगत का समाधान करते हैं। फिर भी **कोई भाव ज्यादा देर तक मन में रहा करे तो उस भाव को दूर करने के लिए प्रार्थना कर लेना।** या तो जिस प्रकार उसे संतुष्ट कर सकते हैं, उस प्रकार उसे निकाल डालने के लिए हमें प्रयत्न करना चाहिए।

सोने की स्थिति में ध्यान जब करने का होता है, तब तंद्रा आ जाने की संभावना रहती है ही, किन्तु यदि उस वक्त पहले हम मन को एकाग्र कर सके, और एकरस भाव से हम डूबना कर सके तो तंद्रा नहीं आयेगी, क्योंकि वह तंद्रा मन के बिलकुल बाहर की या ऊपर की तह पर ही बसती है, या असर करती है। मनुष्य सो रहा हो फिर भी अंदर अपने में लीन रहा हो, ऐसा भी होता है, किन्तु वह हमारे लिए अभी नहीं है।

विचारों के भँवर में खिंचे जा रहे हो, तब जानना कि हमारा मन द्विधा में हो और उसका एकाग्रपन कम हुआ होना चाहिए; इतना ही नहीं, किन्तु रसवृत्ति

का स्थल अंदर से बाहर आ गया होना चाहिए। ऐसा हो, तब हमें हमारा पृथक्करण कर लेना चाहिए। फिर भी (ऐसा कई बार होता है) न समझ में आवे तो भगवान को हमें असल की भावदशा बढ़ाने के लिए प्रार्थना करते रहना और वह मिले बिना आराम से बैठना नहीं, और उस बारे में प्रयास करते ही रहना चाहिए।

('जीवनपगरण' पृ. १२५ से १३१)

।। हरिः ॐ ।।

११ - साधन के प्रति आग्रह

हमारे साधन के प्रति तो हमें आग्रह रखना ही चाहिए। उसके प्रति तो सौ प्रतिशत आग्रह रखना है। ध्यान के वक्त संकल्पशक्ति को काम पर लगाना चाहिए। एक के प्रति आग्रह रखते हुए उसके सिवा सभी के प्रति अनाग्रहवृत्ति हमें विकसित करना है। उसके अतिरिक्त जिससे हमारे साधन में भाव बढ़े उसके प्रति भी हमें रस रहे, वह स्वाभाविक है और योग्य है। हाँ ! अवश्य आगे जाते साधक की एक ऐसी स्थिति आती है कि जब उसे जीवन या जीने के प्रति का आग्रह भी खत्म हो जाता है, छूट जाता है। किसीके भी प्रति तब आग्रह रहता नहीं है। किन्तु वह वृत्ति हमारे लिए अभी तो जरूरी नहीं है।

फोटो के बारे में आपको ब्योरेवार लिखा था। हमें जो कुछ करना है, वह ज्ञानपूर्वक की श्रद्धा से करना है। जानेअनजाने भी उससे अंधश्रद्धा बढ़ने की संभावना रहती है। उसके पीछे की आपकी गहरी प्रेमवृत्ति मैं देख सकता हूँ। जितना आँखों के पास हो, वह हृदय के पास होता है, ऐसा सामान्यरूप से कहा जाता है, किन्तु हकीकत में ऐसा नहीं होता है। आप स्वयं ही थोड़ा गहरा पृथक्करण इस बारे में करेंगे तो आपको स्पष्ट जान पड़ेगा।

आप ध्यान के बारे में ब्योरेवार लिखते हैं, उसमें कुछ गलत नहीं है। सिर्फ अपने में उसका भान रहने न देना; या मन में या चित्त में ऐसा न रखना कि ऐसा-ऐसा होगा तो ही अच्छा या बुरा हुआ माना जायेगा। जो कुछ भी तब अनुभव हो—प्रकाश, आवाज या रम्य दर्शन हो—उस में थोड़ा मन मिल जाय नहीं उतनी सावधानी हमें रखना है। जब-जब लीनता और एकाग्रता रंग में आवे, तब गहरे-गहरे उतरते जाना, और जहाँ तक ख्याल रहा करे वहाँ तक भगवान के भाव का ख्याल रखना। वह भी उड़ जाय तो उड़ जाने देना और क्या होता है, वह तटस्थ भाव से देखते रहना ।

''भगवान का भाव'' यानी क्या ? ऐसा आपको शायद होगा। जैसे हमें कोई अत्यंत प्यारा हो और उसका स्मरण होने पर एक प्रकार का प्यार हमारे में उमड़ उठे वैसा, किन्तु अनेक गुना प्यार हमें भगवान के प्रति हृदय में तब रहा करना चाहिए। उसके प्रति अत्यंत प्रेम हमारे में विकसित करना चाहिए।

उस प्रेम को विकसित करने के लिए ही वैष्णव संप्रदाय में उसके निजी

पाठपूजा, सेवा और भजन-कीर्तन हुआ करते थे। ''आत्मनिवेदन'' की प्रथा भी उसके लिए ही है। जो कुछ बने, हो, इच्छाएँ स्फुरित हो, जैसा होना हो, जो चाहते हो, माँगना हो-यह सब ही ''उस'' को ही कहते रहने का हमें रखना है। कोई दलील करे कि उससे क्या होगा? हम हमारे मित्र को या स्नेहीजन को हमारी तकलीफें, मुश्किलें, उलझनें कह डालते हैं, तब हमारा दिल एक प्रकार का हलका हुआ हमें नहीं लगता? मित्र क्या दुःख ले लेता है? नहीं, किन्तु उसका भाव, प्रेम और सहानुभूति की भावना हमारे साथ मिलती है, इससे हमें हलकापन लगता है। तो भगवान तो मित्र से भी ज्यादा है न?

फिर, हम जो कुछ सब किया करें, उसमें उत्साह होना चाहिए। आनंद, उमंग इसमें बहुत जरूरी है। **कहीं भी 'मिकेनिकल' ''(यंत्र की तरह) कुछ नहीं होना चाहिए।** फिर, यह सब करने में कभी भी ''यह करते हैं'' ऐसा ख्याल भी न आ जाय उस प्रकार यह सब स्वाभाविक रूप से, सहज रीति से होते रहना चाहिए और समर्पित करते रहना चाहिए।

ध्यान के बाद आपको हाथ-पैर के अस्तित्व का ख्याल चला जाता है, उसका कारण है कि वह सब हिस्से एक की एक स्थिति में रहा करते होने से ऐसा हो जाता है, वह जाननाजी।

मन को एकदम शांत करना वह काम कठिन है। गीतामें भी है कि ''मन को वश में रखना वह वायु को कब्जे में रखने जितना कठिन है। इसलिए हे भगवान! उसका उपाय मुझे बताईये।'' यों अर्जुन भगवान को पूछता है। ऐसे मन को ''अभ्यास'' और ''वैराग्य'' इन दो से वश में ला सकते हैं (ऐसा जवाब श्रीभगवान देते हैं)। ''वैराग्य'' यानी हरएक में जब-जब मन जावे तब-तब उसे उसमें से वापस खींच लेना वह; या मेरी समझ के अनुसार तो उसका अर्थ ज्यादा गहरा है। **हरएक बाबत में उसे ऐसी आदत डालना कि वह रस न ले, अर्थात् किसी में भी उसे राग न रहे या राग न हो, ऐसी परिस्थिति में उसे रखा करना, या हमें स्वयं ही उसकी अवगणना हमेशा करने का अभ्यास करने की आदत डाला करें।** ऐसा तो ही होगा कि यदि मन को एक में ही (भगवान में ही) पिरोकर रहने की आदत हम डालते रहे हों। पहले-पहले तो बहुत ऊब आयेगी और मन विद्रोह करता रहता है, किन्तु हम उसकी सतत दोस्ती रखा करें और प्रेममिलाप से उसे आगे बढ़ाते रहें, टोकते रहें और वह भी रचनात्मक रीति

से तो हमें वह जरूर मददगार साबित होगा।

''उस'' के पर बहुत प्रेम-आस्था बढ़ाते जावें। चाहे जैसी स्थिति में भी, टेढ़े संजोगों में भी ''उस'' पर का भरोसा हमें कायम रखना है।

('जीवनपगरण' पृ. ९१—९४)

आपने जो लिखा है, वह बिलकुल योग्य है। आपको एक महीना बस चालू रखना। नया दिखे और अनुभव हो तो ही लिखना, वर्ना नहीं। मन को स्थिर रखने और उसकी तुला शांत रखने के लिए उसी प्रकार के प्रयत्न में लगे रहना। भावपूर्वक, ज्ञानपूर्वक प्रयत्न करते रहना है।

('जीवनदर्शन' पृ. १३६)

।। हरि:ॐ ।।

१२ - मन की स्वस्थता

आप मन की स्थिति बाबत ब्योरेवार सब लिखते हो, वह गलत तो नहीं है; किन्तु मन का उफान सब बाहर आ जाय, तो उससे वह सब निकल जाता है, ऐसी मान्यता में भ्रम है। निकल गया तो तब ही माना जायेगा कि उस बाबत के कोई संस्कार या विचार, वृत्ति, भाव कभी भी न जागे। आप मन के मन से आवेग के साथ जो विचारपरंपरा जगाते हैं, या तो जागती है, वह योग्य नहीं है। ट्रेन का वक्त हो गया हो, तब जैसे कोई एक व्यक्ति ट्रेन पकड़ने के लिए बावरा होकर ऐसे-वैसे इधरउधर तैयारी करे और दूसरा कोई अंदर का संतुलन बना कर उतावली करे, तो उन दोनों स्थिति में फर्क है, उसी प्रकार हमें शांति, स्वस्थता, धैर्य इत्यादि प्रकार का संतुलन बनाने विकसित होने देना पड़ेगा। अपनेआप जो कुछ करें उसमें दिल देवें वह सच है। किन्तु दिल दिया तब ही माना जायेगा कि जिसमें अटलता, दृढ़ता, निश्चिय, भावना इत्यादि प्रकट हुए हो। कर्म में घबराहट, व्याकुलता, कभी भी प्रगट होने न चाहिए। हमारी प्रकृति और स्वभाव के कारण वैसा होता हो तो वह दोष है। उसका स्वीकार प्रकृति और स्वभाव के पास करवाने की खास जरूर है। पूरी सावधानी से, उत्साह से, धैर्य से, निश्चय से उस तरह जो कुछ बने वह करते रहना। ऐसा किया करने में सब प्रेमभाव और दिल पिरो गये हुए होना चाहिए, किन्तु उसके साथ-साथ उसके परिणाम के लिए अधीर, चंचल या अस्वस्थ नहीं होना चाहिए।

जैसे-जैसे मन की अनेक विचार की परंपराएँ रुकती जायेगी और शांत होते जाओगे, वैसे-वैसे श्रीभगवान की कृपा अवतरण होती या दिखती जाती है, उसका अनुभव प्रत्यक्षरूप से होगा। नाहक का संताप और कष्ट नहीं करना है। आपको याद है कि एक बार आपने कहा था कि आपको कई वर्ष पहले दो साध्वी बहनें मिली थी, उनकी तरफ थोड़ा भावपूर्वक आपने देखा था, इससे कुछ देर बाद उनमें से एक ने अपनेआप आपको कहा था कि ''मौन रखो, शक्ति बढ़ जायेगी'' **वह मौन यानी स्थूलरूप से चूप रहना वह नहीं। वह मौन अर्थात् तो अभी के तबके के विचारों का उत्पाद, प्राण की प्रचंड आँधी, बुद्धि में शंका, संदेह और अनिश्चितता के परिणाम से उत्पन्न मथन, संस्कार का बहता रहना और अहम् की बलवान जीवदशा की प्रेरणाएँ। इन सब में से**

मुक्ति प्राप्त करना वह मौन। प्रभुकृपा का आविर्भाव इस प्रकार की प्रकट हुई नीरवता की भूमिका में से ही हो सकता है, वह निश्चित मानना।

''शरीर कमजोर है और वह अच्छा होता तो ऐसा करते, ऐसा होता, और वैसा होता'' ऐसे उथल-पुथल करनेवाले विचार से भरे हुए शरीर बाबत का आतुरतापूर्वक का रटन भी अब ज्यादा समय नहीं करना है। आतुरतापूर्वक का रटन तो रखो, किन्तु वह ध्येय के संबंध में। शरीर के कारण काम ही रुक सकता नहीं। पहले से तो शरीर आपको अच्छा काम देता है, उसको आप मना नहीं कर सकते हो। ध्येय को प्राप्त न कर सकने का एकमात्र कारण यदि शरीर हो, तो तो रोगी, दु:खी, दर्दी कभी भी भगवान को भज ही नहीं सकेंगे न ? नहीं, वैसा नहीं हैं ... हमारी जीवदशा के स्वभाव का और प्रकृति का आवरण अर्थात् कि जो कुछ शुद्ध आत्मतत्त्व का प्रकाश आने में हमारे अंदर परदे रूप है, उसके अनेक लक्षणों में से या आविर्भावों में से एक लक्षण वह व्यक्ति का शरीर है। जैसे उसकी प्रकृति और स्वभाव के लक्षण और आविर्भाव उसकी बुद्धि, उसका मन इत्यादि है, वैसे उसका शरीर भी है। इस प्रकार देखते और समझते ध्येयप्राप्ति के जो बीच में आता है, वह तो प्रकृति और स्वभाव है, और शरीर तो उस प्रकृति या स्वभाव का अंग मात्र है। इससे प्रकृति और स्वभाव उन्नत हो, वही महत्त्व का हमारा कर्म है। हमें जो सँभालने का है, वह अंदर के करणों को—मन, बुद्धि, इत्यादि को। आंतरिक करण जब चेतना के प्रकाश से आलोकित होते हैं, तब वे-वे करण उसको (चेतना को) अनुसरण करते हैं। वैसी भूमिका में शरीर भी उसका अनुसरण करने लगता है। इससे ''शरीर के कारण ही कुछ होता नहीं है'' ऐसा मानना नहीं, किन्तु हमारी अपनी प्रकृति और स्वभाव उस प्रकार के हैं। उसके कारण प्रगति होती नहीं है, वैसा भाव प्रकट करने का रखना। शरीर प्रकृति और स्वभाव के वश है। वह प्रकृति और स्वभाव का अनुसरण करता है। जीवदशा के मनुष्यमात्र का वैसा होता है। शरीर चल नहीं सकता वह आलस्य और प्रमाद के कारण। १९३९ की जुलाई की छठवीं तारीख के दिन आपका सब से पहला अनुष्ठान हुआ, तब मैंने आप से कहा था कि '' घोर तामस की स्थिति है।'' तब आपको अत्यंत आश्चर्य हुआ था, किन्तु **सच्ची हकीकत तो यह है कि शरीर की स्थिति के कारण प्रगति में अड़चन नहीं आ सकती है। प्रगति में अड़चन आती है, वह तो स्वभाव और प्रकृति के कारण ही।**

अलबत्ता, जो जाग्रत हो चुका चेतन पुरुष है, उसका शरीर भी उसकी जाग्रत हो चुकी चेतना को प्रकट करता है, किन्तु वैसा चेतनपुरुष शरीर से रोगी हो, फिर भी आत्मानुभव की मुक्त या आत्मनिष्ठ दशा में वैसा चेतनपुरुष हो सकता है। उसके शरीर को रोगी होने के कारण साधारण मनुष्य के रोगी होने के कारणों से अलग हो सकते हैं।

आत्मस्थिति या आत्मनिष्ठा की कक्षा यानी चेतन की पूर्णता का आविर्भाव। उसके बाद भी ऐसे चेतनपुरुष का विस्तार सहजरूप से प्रकट होता ही रहता है जरूर। ऐसा चेतनपुरुष या मुक्तात्मा उसके शरीर के पार्थिवरूप से तो मुक्त हो गया होगा ही; यानी कि नीरोगी या रोगी शरीर में निवास करते हुए भी वह सर्व भाव से विस्तार प्राप्त करता ही है। शरीर का नीरोगी होना या लंबा टिकना वह आत्मस्थिति का नापलक्षण नहीं है। आत्मतत्त्व अवर्णनीय है, फिर भी उसका वर्णन करें तो वह सब से पर ऐसा सूक्ष्मातिसूक्ष्म और स्थूलातिस्थूल तत्त्व है। जब जीवदशा में चेतन है तो सही; किन्तु उस जीवदशा का जो शरीर है, उसमें जो चेतन है, वह तो मल, विक्षेप, आवरण से आच्छादित हुआ है। ऐसे कारण से आत्मतत्त्व के अविर्भाव प्राप्त करने की शक्यता, स्वभावत: ऐसे मल-विक्षेप से आच्छादित शरीर हो वहाँ नहीं है। चेतना में निष्ठा प्राप्त किए हुए आत्माओं को शरीर का बंधन नहीं है। शरीर की मर्यादा उन्होंने स्वीकार की है जरूर, किन्तु प्रसंग आने पर शरीर की मर्यादा को भी वे हटा सकते हैं। ऐसों को शरीर होने की अनिवार्यता भी नहीं है। इससे शरीर टिके ही ऐसी इच्छा भी उन्हें नहीं है।

यह तो सब अभी के लिए उपकथा हुई। उसमें से प्रस्तुत तो उतना ही है **कि शरीर आत्मतत्त्व के प्रकट होने में या विकास में बाधक होता है, ऐसा नहीं है। यदि वह होता लगता हो तो भी सही रीति से तो वह मनुष्य की समग्र प्रकृति के एक करण या अंग के रूप में। यों सही रीति से तो उसकी प्रकृति और स्वभाव ही बाधक है, नहीं कि शरीर।** अंत:करण के मनादिकरणों की तरह शरीर तो एक करण-साधन है। किसी की प्रकृति और स्वभाव शरीर द्वारा बाधा उत्पन्न करता हो, तो किसी को बुद्धि द्वारा और किसी को प्राण द्वारा बाधा उत्पन्न करता हो, किन्तु बाधा उसका शरीर या बुद्धि या प्राण है ऐसा नहीं है। सच्ची रीति से तो बाधा करनेवाले उसके ही समग्र प्रकृति और स्वभाव है। इससे उस पर ही हमें विशेष लक्ष रखना है, उसे लक्ष में रखनाजी।

('जीवनदर्शन' पृ. १३६—१४०)

आपके ध्यान का अनुभव ज्ञात हुआ। चाहे जैसे कड़ा अनुभव हो–जल जाते हो– फिर भी ध्यान में से उठना नहीं। उसमें तो अचल रहना, स्थिर ही रहना, आसन अदलबदल किया करना नहीं। पहले बैठते वक्त जिस प्रकार का सुखासन पसंद हो, वह लेना और बाद में तो अंत तक उसीमें ही खींचते रहना। किसी भी कारण से बदलना नहीं, चाहे कुछ भी हो जाय। बाद में ध्यान पूरा होने पर कमर या जहाँ दर्द होता हो, वहाँ मालिश करवा लेना चाहिए और वह जरूर करना चाहिए। शरीर की सँभाल उस प्रकार रखना है, नहीं कि ध्यान के वक्त। ऐसी बाबत में खूब ही अड़िग रहना है। साँस धीमी हो जाती है और ध्यान बढ़ाने की इच्छा रहती है तो वह बढ़ाते ही रहना; और जहाँ तक सरल रूप से, ऊब न आये और रस रहा करे ऐसे रह सके वहाँ तक ध्यान चालू रखोगे। समय कहाँ से निकालना वह शोध करना वह काम मेरा नहीं है। वह काम आपका है।

जप का काम क्यों ढ़ीला हो ? जिस प्रकार का ध्यान करते हो, उसमें से बहुत ही ऊर्मि, शक्ति और आनंद मिलते रहना चाहिए; तो उससे तो जप अच्छा चले ही। फिर, जप में ('हरि:ॐ' के) ''हरि:'' बोलने में दिन प्रतिदिन हमें हुलास बढ़ता जाना चाहिए।

हमारा मन ऐसा है कि उसे स्वयं जो करना हो, उसके पक्ष की दलीलें तो ऐसी सुंदर प्रकार से प्रस्तुत करता रहेगा कि पलभर तो उसका सच है, ऐसा मान लेने का मन हुआ करेगा; किन्तु हमें बहुत सोचकर तौल कर के चलना है।

आपके लिए कोई कुछ भी माने या मैं कुछ भी मानूँ उसके लिए आपको कुछ भी परवाह करने की जरूर नहीं है। आपको आपके mission के लिए (प्रभु ने आदेश दिये हुए जीवनकार्य के लिए) लगन उत्पन्न हुई है या नहीं ? और यदि हुई है तो वह सच्चे और योग्य मार्ग पर बह रही है या नहीं ? यह महत्त्व का है। ''सच्चा और योग्य मार्ग पर'' वह कैसे जान सकेंगे ? तो ऐसा है कि यदि हम ज्यादा और ज्यादा प्रभुपरायण रह सकते हों: आगे पीछे के वातावरण से और प्रसंगों से अलिप्त रह सकते हो: मन ज्यादा लेनदेन में न पड़ा करता हो: ''हमारे में ही हम भले'' ऐसी वृत्ति रहा करती हो: और भगवान के आगे हम कुछ ही नहीं। हम तृणवत् भी नहीं हैं, मात्र शून्य हैं, ऐसा हुआ करता हो: उसके शरण में ही ले लेने का बारबार कहा जाता हो तो हम ठीक–ठीक मार्ग पर हैं ऐसा समझना है।

हमारा संबंध भी भगवान का भाव प्रकट करने की बाबत में यदि दृढ़ होता हो तो आनंद से बढ़ने देना और यदि वैसा सत्य न साबित होता हो तो उस संबंध को भी प्रेम से दूर करने का हमें रखना है।

गंभीर होते हुए भी हमें प्रसन्नचित्त तो रहना ही चाहिए। हमारा हलन-चलन एरंडी के तेल पीये हुए मुँहवाले के समान नहीं रहना चाहिए।

नित्य स्मरण की सूची देखी, वह वहाँ (पूजा के कमरे में) रखी है, वह अच्छा है। स्मरण करने में या दिन में तीन बार देख जाने में उसकी इतिकर्तव्यता नहीं है, वह तो आप समझते होंगे ही। उसके पीछे जितनी शक्ति, भाव और तमन्ना हमारी होगी, उतना अच्छा परिणाम हमें मिलेगा।

ध्यान में आपको जो एकाग्रता होती है, और लीनता आती है, उस वक्त आप और बहुत गहरे जाने का रखो; और बाद में मन, हृदय, चित्त और प्राण उन सब से भी पर ऐसी कोई inner consciousness (आंतरचेतना) के भाव का आपको अनुभव होता है सही या नहीं वह देखे। यदि कुछ तब पकड़ में आता हो तो साधना में एकदम तेज प्रगति आ जायेगी, और बहुत फायदा होगा। किन्तु कल्पना से वह वस्तु पकड़ना नहीं है एवं ऐसा आभास हो, उसे सत्य के रूप में ग्रहण भी कर लेना नहीं है। **मन की लीला भी भारी है। जो सत्य है, उसे वह असत्य बताता है, और असत्य है, उसे सत्य भी बताता है ऐसा यह है।**

इस कारण से वह Positive creative force (सचमुच की सर्जनात्मक शक्ति) का अनुभव प्रत्यक्ष कर्तव्यक्षेत्र में उतरकर सर्वांगरूप से अनुभव हो, वहाँ तक हमें ध्यान में से हट जाना नहीं है। ''हे मन ! शोध करो तो प्राप्त होगा''।

('जीवनपगरण' पृ. ५८—६०)

।। हरिः ॐ ।।

१३ - ध्यान के बारे में विशेष

ध्यान सिर्फ शांतरूप से बैठे रहने के लिए ही नहीं है। मन को मौन करने के लिए ध्यान बहुत मदद करता है। वह तो उसका तात्कालिक लाभ है, वैसे ही अंतर्मुख होने का वह हमें मार्ग दिखाता है तथा मन से हम पर हैं, वह तब हमें समझ में आता है। **ध्यान यानी कि हमारे आंतर्तत्त्व की खोज।**

बहुत उग्र ऐसे हलके ध्यान में मन की चालबाजी भी हम जान सकते हैं। ध्यान से हमें ज्यादा शक्ति, आनंद और नयापन मिला करता हैं। उसके अतिरिक्त हमारे दृष्टिबिंदु में भी वह फर्क करनेवाला धीरे-धीरे होता है। फिर, आत्मविश्वास और श्रद्धा को ज्यादा दृढ़ करता है वह लाभ तो है ही, किन्तु सब से महत्त्व का उसका मूल हेतु तो अंदरवाले (आत्मा) की खोज के लिए है।

वह अंदर का तो तब ही मिलेगा कि जब हम बिलकुल निराग्रही, निरासक्त, निरभिमानी हो जायेंगे, तब ही मिलेगा, उसके बिना नहीं। हम हमारे सोचे हुए, माने हुए, कल्पना किये हुए नियम, मताग्रह, बंधन, समझ, दृष्टिबिंदु, अनुभव, ख्याल, विचार, वातावरण, समाज और समाज की प्रत्यक्ष असर-उन सब को छोड़ देंगे; इतना ही नहीं, किन्तु उससे भी पर जाकर हम रह सकते ऐसे होने लगेंगे, तब ही अंदर की वस्तु समझ में आने लगेगी।

हमें ऐसी आदत हो गई है कि कुछ हुआ कि तुरंत ही उसके बारे में मत या अभिप्राय बनाने के लिए तैयार हो जाते हैं। मन की वह दशा हमारे लिए अच्छी नहीं है, उतना ही नहीं, किन्तु अवरोध करनेवाली है। जो कुछ हो रहा है, वह भले हुआ करे। हमें उसमें मत या अभिप्राय कुछ भी बनाने के लिए लालच में पड़ना नहीं। जहाँ-जहाँ या जब ऐसा हो कि तुरंत मन को रोकना चाहिए। ऐसा सतत ज्ञानपूर्वक प्रयत्न करना है।

दिन के दूसरे वक्त में भी जप-धारणा में वेग, उत्साह बहुत-बहुत चालू रखने के लिए प्रभुकृपा से परिश्रम किया करें।

यह जमाना बुद्धि का है; इससे जहाँ तक बुद्धि से कुछ न समझ में आवे या न ग्रहण हो, वहाँ तक हम सयाने लोग कदम उठाने को मना करते हैं। किन्तु इस जमाने में हम कैसे अंधे, मूर्ख बने हुए हैं, उसका पता शायद ही लोगों को होगा। इससे अब बुद्धि से कुछ समझाने का प्रयास भी कर सकूँ तो करता हूँ,

यद्यपि मेरे में उसका छींटा भी नहीं है। 'Like attracts Like' (*'समानशील व्यसनेषु सख्यम्'*) तो प्रसिद्ध बात है। फिर रेडियो का आकर्षण जहाँ रेडियो जैसा यंत्र रखा गया होगा वहीं होगा। दूसरी जगह नहीं होगा। इससे हम Like (भगवान के अनुकूल) हों तो ही हम आकर्षित हो सकते हैं। यह तो ''एक और एक दो'' जैसी बात है। वह तो गले उतर जाय वैसा है। इससे हमें पूरा प्रयास उस Like के साथ तद्रुप होने में ही लग जाना चाहिए। जितना दूसरी तरफ जायेंगे उतना व्यर्थ प्रयास है, और शक्ति को उलटे मार्ग पर ले जाने का प्रयास है। वह तो उसके जैसा हो कि हम साइकिल पर बहुत गति से जाते हों और उस में थोड़ासा कुछ जोरवाला टकरा जाय तो भी हम धड़ाम कर के साइकिल के साथ लुढ़क जाते हैं; वैसे इसमें भी जानेअनजाने मार्ग से अलग पड़ने पर हमें भारी नुकसान होता है।

उस मार्ग से अलग करवानेवाला हमें अनेक प्रकार से आकर मिलता है। यदि हम जाग्रत न रह सके तो मन ही हमें टकराता है; वह नहीं तो हमारा अहंकार Vanity - मिथ्याभिमान हमें पटकता है। मज़ा तो इस बात की है कि हम मानो सीधे ही रास्ते पर हैं, ऐसा ही वह महसूस करवाता है। इसलिए यह सब सँभालना है, उसे सँभालोगे। भगवान की प्रार्थना उसके लिए बहुत जरूरी है। उसके साथ निजी संबंध बहुत बढ़ाते रहना चाहिए।

बहुत नम्रता विकसित करे, भले कोई उसका उलटा अर्थ करे। संपूर्ण शून्य हुए बिना हम कुछ प्राप्त नहीं कर सकेंगे। मैं तो कहता हूँ कि एक बार हम हमारे मन की लीलाएँ देखने के लिए तो पर हो जावे। इतना होने पर भी गफलत में रह जायें ऐसा है, किन्तु पुरुषार्थी को और निष्ठावान को कुछ भी कठिन नहीं है, क्योंकि बाद में तो वह जैसे-जैसे कदम बढ़ाता जाता है वैसे-वैसे उसे उसमें आनंद मिलता जाता है, और वह आनंद ही बाद में तो उसे मार्ग पर रखा करता है, किन्तु वह रस हमें हमारे में से उत्पन्न करवाने का है।

ध्यान में शून्यता का period (समय की अवधि) आता है, वह तंद्रा है या नहीं वह आप पूछाते हैं। उस बाबत में लिखने का कि **तब सब dull (सुस्त-आलसीपनेवाला) लगा करता हो तो तंद्रा समझना और यदि शून्यता होते हुए चेतनपन लगता हो तो वह तंद्रा नहीं है।** मन का साक्षीपन तब काम करते जान पड़ेगा ही। ध्यान की शून्यता में भी जड़ता नहीं होनी चाहिए। जड़ता हो तो तंद्रा समझना। ध्यान में होते हो, तब पाँव में या कोई ठिकाने बहुत

दर्द होता हो, ऐसा अनुभव होता होगा, किन्तु उस पर ध्यान देना नहीं। वह तो आपको ध्यान में से हटाने का प्रयास है। आप स्थिररूप से, प्रेमभाव से सब किया करोगे। असली मज़ा तो तब आयेगी कि जब उसके प्रति आपका लक्ष्य भी न जाय।

१. ध्यान के अंत में प्रार्थना जरूर हो सकती है।

२. प्रार्थना के वक्त चित्त या लक्ष हृदय पर रखना।

३. जिस दिशा की ओर मुख कर के बैठने में आपको ज्यादा आनंद आता हो वैसा करें।

४. मुख्य साधन जप, धारणा, शरणभाव और समर्पण।

अब आप ऐसा करोगे कि किसी अच्छी फिल्म कंपनी का एक अच्छा चित्रपट वहाँ आवे, तब देखने जावे और वहाँ अनुभव कर के देखो कि उसमें ध्यान जाने पर भी कितनी बार जप टूटता है, और जप भाव में कैसा होता है! सिनेमा देखने जाने में संकोच मत रखना हंअ....! यद्यपि आपको ऐसा होगा, वह मैं समझता हूँ, किन्तु हमें भाव के विकास के लिए प्रवृत्ति में संकोच नहीं रखना है। बाद में मुझे लिखना। बहुत आनंद में रहना और सर्व शक्ति, उत्साह, आनंद, प्रेम हमारे काम के पीछे ही खर्च करने का सतत लक्ष रखते रहनाजी।

('जीवनपगरण' पृ. ६०—६४)

।। हरिः ॐ ।।

१४ - ध्यान के लिए खास

उसने दिये सुख सुविधाएँ जिंदगी आनंद से गुजारने,
उसने दी सुविधा सभी हृदय बहलाने को,
उसने कैसे मन, हृदय और चित्त दिये उद्दात!
नित्य ऐसे प्रिय प्रभु का बड़ा आभार मान।

१. ध्यान के वक्त आसन नहीं बदलना चाहिए। जब ठीक न हो या आराम लेकर आसानी से वह करना हो, तब सोते-सोते भी हो सकता है। सोते-सोते पालथी मारकर करना अच्छा। बाकी लम्बे पैर कर के अँगूठे से अँगूठा लगाकर भी हो सकता है।

२. ध्यान के लिए आसन की जरूरत शुरूआत में ही रहती है। बाद में जब साधक उसमें सराबोर हो जाता है, उसमें वह संपूर्ण लीन हो जाता है, तब किसी प्रकार के आसन की उसे जरूर नहीं रहती है, किन्तु वहाँ तक आसन की जरूर उसे रहती है। हमारी प्रत्येक आदत से हमें हमारा will power (संकल्पशक्ति) कैसे बढ़े वह देखकर हमारा काम निश्चित करना चाहिए।

ध्यान में से चेतनाशक्ति का प्रवाह सचराचररूप से बहता अनुभव होता है वह सही है; किन्तु यदि ऐसा हो तो जिसे हम inner consciousness - आंतरिक चेतना कहें, उस शक्ति की कुछ झाँकी, अनुभव हमें होना ही चाहिए। कई बार वह अनुभव होता है हृदय के मध्य भाग से, कई बार ब्रह्मरंध्र से और कई बार पैर के अंगूठे से भी।

किन्तु इन सब की कोई महत्ता हमें आँकना नहीं है। हम तो व्यापारी हैं। जो कुछ मिले या अनुभव हो उससे हमारे काम में कितना उत्साह प्रेरित होता है और उसमें ही सतत तीव्रता और तीव्रता कितनी गति और शक्तिशाली रहती है और समर्पण और शरणभाव कितना संपूर्ण बना रहता है, उसका हमें नाप रखना है। यदि वह बढ़ते हुए लगते हो तो उस ध्यान का चेतनप्रवाह सच्चा, अन्यथा उसमें कुछ भ्रम है ऐसा समझना है। वह चेतनप्रवाह सच्चा स्फुरित होने पर हमारा दृष्टिकोण बदलता जायेगा; नई दृष्टि मिला करेगी और नई शक्ति स्फुरित होगी।

३. ध्यान के वक्त अभी आवाजें सुनाई देती हैं, उसका अर्थ अभी संपूर्ण एकाग्रता नहीं होती है। यद्यपि उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि ध्यान में जान बूझकर

मूढ़ बने रहना है। मूढ़ता हमारी संपूर्ण इंद्रियों की विकसित करने की है। मन की शून्यता तो जैसे-जैसे ध्यान में आगे बढ़ते जायेंगे वैसे-वैसे अपनेआप होती जानी चाहिए और उसके (मन के) अंगउपांग भी साथ-साथ ध्यान में रस लेते बनने चाहिए। हम किसी समस्या के समाधान के लिए किसी में मशगूल हो जाते हैं, या ऐसा काम आता है, जब हम संपूर्ण रूप से उसमें ही पिरो जाते हैं, तब सामान्य रूप से दूसरा सब हमारे आसपास बनता होता है, फिर भी उस काम की तीव्रता के कारण उसमें ही डूबे हुए होने के कारण उस वातावरण से हम अनजान रहते हैं, और कोई बुलाता है, फिर भी सुनते नहीं हैं और अचानक कोई ज्यादा जोर कर के बुलाता है तो थोड़ा उसमें से चौंककर जवाब देते हैं। सामान्य काम में भी गहरे उतरने पर ऐसा होता है तो ध्यान में उससे ज्यादा होना चाहिए। ऐसी (ध्यानस्थ) स्थिति में कोई जलता कोयला किसी अंग पर लगा दे तो उसकी इंद्रियाँ उससे जलेगी नहीं ऐसा तो नहीं होगा, किन्तु उससे उसके दर्द को प्राधान्य वह नहीं देगा; उतना भी सही है कि ध्यान में ऐसा यकायक अचानक आघात से किसी वक्त बहुत नुकसान होना संभव रहता है।

४. ध्यान के वक्त भाव जागे वह भी ठीक नहीं है, चाहे किसी तबके पर abstract (अव्यक्त और निराकार) भाव जागे वह ठीक। किन्तु उदाहरण के लिए तब मेरे प्रति भी प्रेमभाव जागे तो वह नहीं आने देना, किन्तु भगवान का भाव रहे और काम करे ऐसा ही होना चाहिए।

५. ध्यान के वक्त विचार की लहर आती हो, तब उसकेमूल तक जा सकते हो और मूल को परिवर्तन कराकर उसे भावना के रूप में परिवर्तित कर सको तो अच्छा। किन्तु ध्यान के समय में आरंभ में ऐसा होना बहुत कठिन है। ध्यान के बदले, और जो उसका हेतु है उसके बदले, विचारों के मूल खोजने में लगोगे या लग जाओगे। इससे उसे आने देकर उसे बह जाने देने में उसके succeeding thoughts (अनुगामी विचार) में डूब न जावे, वह अपनेआप ख्याल में रह सके तो बहुत अच्छा है।

६. मैंने ध्यान रखा था, इससे ध्यान अच्छा हुआ वैसा ख्याल हमें नहीं रखना है। भगवान सब का है। आपका भी है। आप जो कुछ मानो वह कर सको ऐसा है ही ! मैं तो नाचीज़, पामर, पतित हूँ। मेरा ऐसा दावा नहीं है कि मैं ही कुछ करवा सकता हूँ। हाँ, पहले... भाई को ऐसी-ऐसी हकीकत की यथार्थता में रहकर लिखता था। किन्तु अनुभव से देखा कि हजारों बार ऐसे विश्वास उत्पन्न

करवाने के कारण दो तो भी जहाँ तक हमें स्वयं को ही वह समझ नहीं आता है, वहाँ तक वह सब निरर्थक प्रयास है। इसलिए आप जो कुछ हो सके, वह शरणभाव से करते रहें, निरासक्त रूप से, निरभिमानी रहकर अत्यंत प्रेमभाव के साथ किया करें। मेरी आप लोगों को स्मरण में रखने की रीति अलग है, वह शायद आपको समझ में आया होगा। इसलिए ही अब मैं कुछ इस बाबत में लिखता नहीं हूँ। आपको अपनेआप इस बाबत में ही भान जागे वही सही है। बाकी तो आनंद है।

७. ''ध्यान हप्ते से रख सकते हैं ?'' ऐसा आप पूछते हो। उसमें हमें मन से पहले जितना बैठना हो, मानो कि एक घंटा, तो उतना समय तो बैठना ही। उसके बाद से ज्यादा मन हो तो ज्यादा बैठना, किन्तु कुछ भी यद्वातद्वा न होना चाहिए। सब व्यवस्थित योजना के अनुसार होना चाहिए, किन्तु वह एकमात्र जड़ नियम के रूप में नहीं।

८. ध्यान में कोई भी विचार आवे वह अच्छा नहीं। उसमें कक्षा या भूमिका का विचार ही न करना। वर्ना फिर भ्रम में रहेंगे कि चलो, खराब विचार से तो अच्छे विचार आते हैं उतना तो अच्छा ही है न ?

९. कुछ भी काम ऊब से नहीं करना चाहिए। उस ऊब को प्रेम की भावना बढ़ा-बढ़ाकर जीत लेना चाहिए। ध्यान में वक्त का भान नहीं रहता है, उतने अंश में आपको ऊब नहीं आती है ऐसा समझता हूँ।

('जीवनपगरण' पृ. ६५—६७)

* * * * * * * * * * * *

।। हरिः ॐ ।।

१५ - जीवनयोग

आपको ध्यान में हरि का अर्थ सूझा कि ''पाप को हरनेवाला वह हरि''। उस अर्थ के भाव का पारायण ध्यान में या स्मरण में करना नहीं है। दूसरे किसी वक्त में जरूर कर सकते हैं। ध्यान में और स्मरण में ऐसा नहीं करने का कहता हूँ, उसका कारण तो यह कि ''हरि'' का अकेला एकमात्र वही गुण है, ऐसा कुछ नहीं है। इससे आपने जो हरि का भावार्थ लिखा है वैसे भाव की कल्पना स्मरण में रखा करें तो हरि के तत्त्व को संकुचित अर्थ में ले लिया ऐसा माना जायेगा। हम हमारे पाप को ''हे हरि! तुम हर लो'' ऐसी प्रार्थना करें, वह भी योग्य नहीं है। क्योंकि ''वह'' स्वयं कर्म को प्रेरित करनेवाला कारण है, कर्म भी है, कर्म का कानून भी है और कर्म का परिणाम भी है। और यदि यह समझ सच्ची हो तो हम कहीं किसी से भाग छूटने का करें, या तो उससे बच जाने के लिए प्रार्थना करें तो वैसा हो सकता नहीं। वैसे-वैसे कर्म को redeem होने के लिए—कर्म का प्रक्षालन होने के लिए—संपूर्ण समता से, शांति से, प्रसन्नता से उस-उस कर्म को स्वीकार कर प्रेभभाव से, हुलास से वह करते रहें तो उसका प्रक्षालन अपनेआप संपूर्ण हो जाता है।

समर्पण का ज्ञान और भाव तो हर पल रखना वह साधना के भाव में बहुत-बहुत जरूरी है। समर्पण का भाव प्रतिदिन की दिनचर्या में ही तरबतर हो जाने लगे तो उसमें से जो एकाग्रता की और भावना की शक्ति प्रकट होती है, वह हमारे में अंतर्मुखता प्रकट करने में बहुत ही सहायक हो सकती है। उसके बाद उसका भाव नित्य के कर्मव्यवहार में भी रह सकता अनुभव कर सकेंगे और ऐसी स्थिति प्रकट होने पर नित्य के नियम के अनुसार होते रहते ध्यान में हमें बहुत मदद मिलती है। ध्यान की असर से मंतव्य, आग्रह, समझ, मूल्यांकन, दृष्टिबिंदु इत्यादि-इत्यादि प्रकट होने पर हमें तटस्थ रह सकने की कला प्राप्त होती है। उस प्रकार का ज्ञानमूलक अभ्यास दृढ़ होते-होते ऊपर के अनुसार सब प्रकट भी होता नहीं है। हमारे मनादिकरण उस अनुसार जब वर्तन नहीं करते हैं, तब ही नीरवता की स्थिति प्राप्त होने की संभावना होती है। ध्यान के प्रतिदिन के अभ्यास की तीव्रता के कारण कुछ वक्त ऐसी स्थिति कम ज्यादा शायद प्रकट हो, किन्तु वह प्रतिदिन के व्यवहार में यथार्थ नीरवता नहीं प्रकट कर सकती है। ऐसी

संपूर्ण भावात्मक और चेतनात्मक नीरवता मनादिकरण में प्रकट हुए बिना चेतन का अनुभव होना कभी भी संभव नहीं है।

('जीवनदर्शन' पृ. ११३-११४)

।। हरिः ॐ ।।

१६ - ध्यान और रोज़ का जीवन

ध्यान के प्रकार में एकदूसरे का मिलावट नहीं कर देना। जीवनविकास से संबंध की साधना का भाव प्रकट करने में और उसे जीवंत रखने में अनेक प्रकार के जैसे साधन हैं, वैसे ध्यान भी एक साधन है। ध्यान में जो तटस्थता, समता, धैर्य, शांति, प्रसन्नता प्रकट होते हैं, वह-वह सब हम नित्य के रोज़-ब-रोज़ के व्यवहारवर्तन में समझ-समझकर प्रकट करते रहेंगे, तो ध्यान उत्तम से उत्तम प्रकार का प्रकट होता रहेगा। सुबह में अमुक निश्चत समय पर अमुक समय तक ध्यान किया, इससे बस हो गया, ऐसे ध्यान का जीवनविकास की साधना में कोई अर्थ निकलता नहीं है। सामान्य रीति से लोग तो जीवन के हिस्से कर देते हैं। किन्तु वह बिलकुल योग्य नहीं है। उलटा संपूर्ण अयोग्य है। यदि ध्यान में भाव प्रकट हुआ हो तो उसकी असर थोड़ी बहुत भी आधार में प्रकट हुई अनुभव कर सकते हैं और वह असर विचार, वचन, वर्तन में प्रकट होती रहती लगे। इस प्रकार ध्यान में से प्रकट होनेवाले परिणाम को समझ-समझकर उपयोग हुआ करे, तो साधना समय के जीवन की और उसके बाद के जीवन में एक जीवंत भावना की साँकल प्रकट हुई हम अनुभव कर सकेंगे। बाकी तो अमुक समय पर साधना का कोई एक साधन करें, और बाकी के दूसरे सभी समय में बिना ठिकाने का कैसा भी बरताव करें और यद्वातद्वापन उसमें चालू रहा करता हो तो उससे तो उलटी भावना में बहुत-बहुत क्षति प्रकट होती है। ऐसा यदि हुआ करता हो तो ध्यान में, साधना के अभ्यास में तन्मय होने की संभावना बिलकुल नहीं होती है, या तो प्रकट नहीं हो सकती है, ऐसा मेरा तो अनुभव है।

प्रभुकृपा से जब स्मरण में मुझे अखंडता, अटूटता प्रकट हुई नहीं थी और दिन के कई घंटों तक जब स्मरण प्रकट हुआ नहीं रहता था, उस-उस वक्त उसके सिवा के जीवन के अन्य वक्त में जो-जो वृत्तियाँ, विचार उठते, उससे मुझे अपनी मेरी भावना का स्खलन होते बार-बार अनुभव होता था। जैसे-जैसे स्मरणभावना में अटूटता प्रकट होने लगी या तो दिन के १४-१५ घंटे स्मरणभावना प्रकट होने लगी, उसके बाद के वक्त में भावना का जोश अजीब निराले भाव का प्रकट होता था। स्मरण की भावना अखंड और अटूट प्रकट होती है, तब भी यानी की वैसी भूमिका में भी भावना की अटूटता प्रकट हुई नहीं होती

है। स्मरण में अखंडता और अटूटता प्रकट होने के बाद भावना में किस प्रकार अखंडता और अटूटता जीवंतजाग्रत पल-पल पर उसकी तीव्रता के प्रमाण में झलझलाया करे, उसका भान प्रभुकृपा से मुझे प्रकट होता था। स्मरण में अटूटता जब प्रकट होती है, तब भावना को प्रकट होने में ज्यादा कुछ मेहनत नहीं होती है। प्रत्येक कुछ जो भी करने में भावना के बल से वह हुआ करे ऐसा ख्याल अपनेआप प्रकट होता है, और किसी वक्त वैसा नहीं होता है, तो तुरंत जाग्रत भी हो जा सकते हैं। इस प्रकार भावना का एक यज्ञ प्रकट होता रहता है, उसके बाद उसमें भी अटूटता प्रकट होने शुरू होती है।

यह सब लिखने का हेतु तो यह है कि ध्यान का हेतु या तो साधन के अभ्यास का हेतु, वैसे साधन के अभ्यास सिवा के जीवन के दूसरे वक्त में उस-उसके प्रकार के साधन की भावना को अटूट रूप से प्रकट करने में रहा हुआ है। यों ही यदि हुआ करे, तो ही जीवन में भावना की एकतारता और एकतानता प्रकट हो सके और तो ही भावना में अखंडता प्रकट हो सके। साधन करते वक्त भावना प्रकट हो और उसके सिवा के जीवन के दूसरे वक्त में भावना का यदि खून हुआ करे, तो फिर इन दोनों परस्पर विसंवादी रीति से भावना में एक ऐसे प्रकार की क्षति प्रकट होती है कि जिससे भावना का उच्छेद ही हुआ करता होता है। इससे **साधक को साधना के अलग-अलग प्रकार के साधन के अभ्यास में जितने महत्त्व का लक्ष देना है, उससे भी विशेष लक्ष और विशेष चेतनमय लक्ष प्रतिदिन के होनेवाले व्यवहारवर्तन में रखना है और उसके संबंध में उसका विशेष ज्ञानभक्तिपूर्वक का झुकाव पूर्ण मुड़ गया हुआ होना चाहिए।** यदि ऐसा नहीं हो सकता हो तो ध्यान का या ऐसे दूसरे किसी साधन के अभ्यास का कोई अर्थ नहीं है। ''इस'' मार्ग को तो मैं एक प्रत्यक्ष जीवनसाधना का मार्ग मानता हूँ और इससे ही इसे ''जीवनयोग'' कहता हूँ।

ध्यान से साक्षीभाव की भावना विकसित होती जाती है और वैसा साक्षीभाव हमारे हररोज के व्यवहारवर्तन में प्रकट हुआ करे, उसका भान भी रखना है। यदि वैसा हुआ करता हो और वैसा अभ्यास लम्बे समय तक यदि हुआ हो तो ही हम जो कुछ भी उत्पन्न होगा, उससे अलग रह सकने की या हो सकने की कला और शक्ति प्राप्त कर सकेंगे। व्यापारी जैसे व्यापार में से मुनाफा प्राप्त कर के उसको पूँजी में जोड़ता है और फिर उससे ज्यादा व्यापार करता है, उसी

प्रकार हमें करते रहना है।

ध्यान के समय स्मरणभावना की धारणा रहे वहाँ तक रहने देना। लीन होने पर वह चली जाय तो जाने देना। उसको पकड़ रखने का तो करना ही नहीं। लीन होते-होते कुछ भी या किसी का भी भान न रहे और फिर भी अंत:करण में अंत:करण से, भाव से, भाव में सचेतन रहा करें वह बहुत जरूरी है।

('जीवनदर्शन' पृ. ११५—११८)

।। हरिः ॐ ।।

१७ - आत्मलक्षपन

आप हररोज जो प्रार्थनाएँ भेजते हो, उस पर से भी देख सकते हैं कि हृदय में उमड़ते मनोभाव का योग्य उपयोग नहीं हो सकता है, और मन जैसा नचाता है वैसे नाचते हो। ''यह जीव'' वहाँ था, तब भी आपको कहा था कि ''आप सिर्फ स्मरण करते रहेंगे तो भी काफी है।'' किन्तु दिल में आपको ऐसा रहा करता है कि ''दूसरे साधन में मैं कमजोर निकला इत्यादि इत्यादि।'' आपको कुछ भी ऐसा मानने की जरूरत ही नहीं है। आपको जो कुछ करना हो, वह प्रेम से करते रहो। किन्तु उसके बाद उसके बारे में ऐसे या वैसे विचार करना छोड़ दो। कई बार आपने मुझे पूछा था, ''मेरा ध्यान कैसा हुआ था?'' तो भी वह कहने से साफ मना कर दिया था। फिर भी अभी भी उस प्रकार के भ्रम के कुएँ में कहाँ तक फिरते रहोगे? मेरे प्यारे! जो कुछ करना है, वह हुलास से करते रहो। **ध्यान भी करना अनुकूल न हो, तो उसे भी छोड़ दो। सिर्फ भावात्मक स्मरण का साधन मामूली नहीं है। जो कुछ हुआ करे, उसे हुलास से होने दो और फिर प्रेम से भगवान को समर्पित कर दो।** कुछ नया अनुभव हो या नई भावना, नई समझ आवे तब तो जरूर लिखना। साधन की बाबत में वह करते रहने के सिवा दूसरा विचार ही हमें नहीं करना है। और हो तो उस संबंध में कोई महत्त्व हमें प्रकट करना या प्रकट नहीं होने देना है।

परावलंबी या परलक्षी बनने का हमारा दृष्टिबिंदु नहीं है, आत्मलक्षी होना है। हम अपनेआप हमारे स्वयं पर आधार रखते और बाद में ज्ञान-भक्तिपूर्वक की नम्रता विकसित कर-कर के और रखकर सीखना रखें तो कितना उत्तम! ऐसा कितनी बार प्रेम से आपको कहा है! इसलिए अब तो आप पत्र लिखना भी बंद करेंगे तो भी हर्ज नहीं हैं। यद्यपि ऐसा लिखूंगा तो फिर से आप तर्क वितर्क पर चढ़ जायेंगे। इससे सिर्फ मन की उफान निकाल डालने जितने पत्र लिखना हो तो भले लिखना।

ध्यान में कविता करने की कई बार इच्छा हो वह स्वाभाविक है, क्योंकि कविता का उत्पत्तिस्थान ऊर्मि है। किन्तु कविता लिखने की ऊर्मि ध्यान में प्रकट हो, तब उसका सदुपयोग उस प्रकार करना है कि उस ऊर्मि को दिल में, दिल से ज्यादा से ज्यादा एकाग्र होने में उपयोग करना। ध्यान करते वक्त कविता लिखने

की ऊर्मि प्रकट हो, तो ध्यान छोड़कर कविता लिखने नहीं बैठ जाना है। ध्यान पूरा हो, उसके बाद यदि वह याद रहे तो वह लिख लेना, किन्तु ध्यान दरमियान तो नहीं ही। कौनसा गौण और कौनसा प्रधान वह विवेक हमें रखना है। फिर ध्यान में वक्त की गिनती बिलकुल नहीं करना है, वह भी मैंने आपको कहा था। अब से कितना समय ध्यान चला वह लिखना नहीं और आप भी उसकी गणना करना नहीं।

''इस जीव'' के प्रति भाव आता है, उससे मनोभाव, ऊर्मि का तो स्फुरण होता है, किन्तु उसे तितर-बितर कर दिया जाता है। इसलिए आपको लिखा है कि आपको सिर्फ स्मरणभाव के ऊपर ही ध्यान रखना है। **दूसरे का देखने की आदत बिलकुल छोड़ देवें। वर्ना स्वयं दुःखी होते रहेंगे। ''हम नालायक निकले'' ऐसा गलत ख्याल नहीं करना है। उलटा उस प्रकार की लघुताग्रंथि** (inferiority complex) **में से मुक्त होना है।** ऐसी लघुताग्रंथि उत्पन्न होने के अलग-अलग कई कारण हो सकते हैं। दूसरों से साधना के साधन अच्छी रीति से हो सकता है। उस प्रकार दूसरों का देखते रहने की आदत से हमारे में ''लघुताग्रंथि'' प्रकट होने की संभावना है। हमारे में भी चेतनमय प्राणवान शक्ति प्रकट हो, तो हम भी वैसा करने में समर्थ हैं, ऐसी इच्छाशक्ति को बलवान बनाना है। द्विधापन हम नहीं छोड़ सकेंगे तो हमें वह कौन छुड़ा सकेगा ? अभी हमें किसी अमुक के जैसे होने की लालसा हुआ करती है, उसे तो पूरी तरह फेंक देनी पड़ेगी। हम जो हैं, उसमें से ही दिल में का चेतनमय ''एक'' पैदा होगा और होनेवाला है। इसलिए दूसरे क्या और कितना करते हैं या कर सकते हैं, ऐसे विचार करते रहकर हमें निराश नहीं होना है। फिर सिर्फ बाहर दिखनेवाली साधना के प्रयासों से उस मनुष्य के अंदर की साधना का नाप नहीं निकाला जा सकता है। ऐसे उसकी कक्षा का नाप भी हम से नहीं निकाला जा सकेगा। हम वह निकालने या नापने जावे, तो उससे कर के हम हमें ही अन्याय भी कर बैठेंगे और उसके कारण खिन्नता या निराशा उत्पन्न होगी। दूसरों के संबंध की दृष्टि, वृत्ति और अभिगम हमें तो समझ-समझकर अंतर्मुखता विकसित करने में मोड़ देना है। स्वयं जैसा जहाँ खड़ा हो, वहाँ से आगे जाने के हेतु से स्वयं के ही दोषों का निरीक्षण करते रहकर वहाँ से मुक्त होने के लिए हमें उस प्रकार के प्रयास के साथ प्रार्थना के साधन का भी उपयोग करना है।

अब आपको सिर्फ स्मरणभाव का साधन करते रहना है। और समर्पण-भाव का तो सही ही। ज्ञानभक्तिभाव से जितना अंतर्मुख हो सके और रह सके उतना उत्तम। प्रार्थना का साधन तो है ही। ध्यान की बाबत में यदि स्पष्ट न लिखूँ तो फिर हम इधर-उधर के विचारों में चढ़ जायेंगे कि यह तो vote of censure (नालायकी का मत) हुआ। इससे खास लिखता हूँ कि ध्यान में जो जाग्रति, एकाग्रता, शांति, प्रसन्नता, तटस्थता, समता, धैर्य इत्यादि प्रकार के रचनात्मक लक्षण उत्पन्न होते हो या बढ़ते हो तो ध्यान करने का रखना। किन्तु यदि उसमें से विचार की तुला स्थिर न रख सके ऐसी स्थिति उत्पन्न होती हो, तो बेहतर है कि ऐसा ध्यान कुछ नहीं करना। जिस साधन द्वारा उस साधन का हेतु ही पूरा न हो सकता हो और उस साधन की ऐसी स्थिति यदि न उत्पन्न होती हो और विरुद्ध स्थिति में हम परिणाम प्राप्त करते जाते हों, तो उस साधन को छोड़ देना ही योग्य रहेगा। या तो वह करने की रीति और भाव में कहाँ हमारा दोष है, उसे ढूँढ़कर योग्य प्रकार से करने की कला प्राप्त करना चाहिए। साधन स्वयं गलत होने की संभावना कम है। साधन को और उसे कैसे-कैसे योग्य प्रकार से उपयोग करना वह जान लेना जरूरी सही। किन्तु कदम-कदम पर कोई हमें चलाता रहे वैसा तो किसी काल में किसी से भी नहीं हो सकेगा। हमारे स्वयं में ऐसा दिल का भाव प्रकट होता है, तब उस प्रकार का साधन दिखाने पर हम से वैसा हो सकता है।

हम विचारों में बहुत खो जाते हैं। इसलिए प्रथम तो हमें उस पर काबू प्राप्त करना चाहिए। उसके उपाय के लिए हमें हमारे मन को देखते रहना चाहिए। अब आप पत्र लिखो वहाँ तक यहाँ से कुछ भी नहीं लिखा जायेगा। इसमें vote of censure (नालायकी का मत) जैसा कुछ नहीं है। सिर्फ हमें अपने आपको ज्यादा तटस्थता से, उत्तम रीति से देख सके, उसकी तालीम के लिए यह कदम है। कृपा कर के हमें तो सर्व प्रकार से निश्चिंत होना है।

''इस जीव'' के लिए जो प्रेम की ऊर्मि आपको उठती है, उसका यदि साधना की प्रगति में उपयोग न हो सकता हो, तो वैसी ऊर्मि साबुन के झाग के बुलबुले समान मानी जायेगी न? **प्रेमोर्मि तो शक्ति है।** वह हमारा उत्तम साधन है। सोचो कि ''इस जीव'' के लिए आपको प्रेम की ऊर्मि दिल में प्रकट हो तो उस अवधि के समय में उस प्रकार की जागी हुई प्रेम की ऊर्मि से मेरे में आपका दिल एकाग्रता से पिरोया हुआ अनुभव हो तो भी उस प्रेमोर्मि का प्रकट हुआ

यथायोग्यपन समझ सकते हैं। किसीके संबंध में प्रकट हुई प्रेमोर्मि तो हमें उसमें एकतानता से पिरो दे सकती है। ऐसी दिल में दिल से प्रकट हुई प्रेम की भावना तो परस्पर की दिल की निकटता प्रकट करती है। ऐसी प्रेम की भावना तो भेद को कम करती है। ''इस जीव'' के संबंध की आप में प्रकट होती प्रेम की ऊर्मि को शक्तिरूप समझकर कृपा कर के उसका उपयोग करने का हमें लक्ष में लेना है।

हमें अधिकार है मात्र कर्म करने का; और वह कर्म भी उस प्रकार करना है कि वह कर्म करते वक्त मन में इधर या उधर का किसी प्रकार का द्विधाभाव का भाव या अन्यथापन के विचार प्रकट होने न चाहिए। कर्म को जीवनहेतु के भाव को लक्ष में रखकर करते रहना है। हमें जो कुछ सूझा है, वह करते रहें और उसमें ही पूरा लक्ष और सब शक्ति पिरोये, उतना ही हमारे लिए योग्य है और वह संपूर्ण है। कर्म के परिणाम को ख्याल में रखते रहने से तो गलत उतावलापन प्रकट होता है और वह तो मन की घबराहट और चंचलता का एक लक्षण है। इससे तो हमें जो चाहिए, वही उलटा ज्यादा खो देते हैं, क्योंकि मन की घबराहट और चंचलता के स्वभाव को हम ज्यादा सतेज करते हैं, जब कि हमारा हेतु तो मन की तुला स्थिर रखने का है।

('जीवनदर्शन' पृ. १२३—१२९)

।। हरि:ॐ ।।

१८ - ध्यान में प्रगति और सावधानी

ध्यान में एकाग्रता नहीं आती है, विचार अभी भी बहुत-बहुत आते हैं, उसका कारण उस समय में भाव में एकाग्रता, केंद्रितता के कारण से हृदय में गहराई प्रकट नहीं हुई है वह है। किन्तु हमें तब सविशेष लक्ष रखकर ध्यान में उसके तंतु में ही सतत जागृति से परिश्रम करना है। हमारे दिन के प्रतिदिन होते रहते कर्म में जीवनविकास के हेतु का लक्ष जितना ज्यादा से ज्यादा एकसा प्रकट हुआ करे और उसमें हृदय का भाव जीवंतजाग्रत रहा करे उतने प्रमाण में हमारा ध्यान उत्तम होता रहेगा। ध्यान में उत्तमता और सहजता प्रकट करने के लिए हमें हमारे प्रतिदिन के कर्मव्यवहार में दिल की घारणा ध्येय में रखने के लिए सतत ज्ञानपूर्वक परिश्रम करना है। हर पल जागृति रखना है। **कोई सुंदर दृश्य या चित्र या रस पड़े वैसा पुस्तक पढ़ने में हम तल्लीन हो जाते हैं, तब दूसरे विचार हमारे में प्रवेश नहीं करते हैं। उस प्रकार जब हमें जीवन में हमारे ध्येय के संबंध में ऐसा ही रस प्रकट होता है, तब अपनेआप एकाग्रता, तल्लीनता और तन्मयता प्रकट होती है।** ''असल परेशानी'' तो यह है कि अभी तक हमें जीवन के संबंध में सच्चा, वास्तविक अत्यंत गहराई से पूरा रस प्रकट हुआ नहीं है। हम सब अभी भी इधर-उधर व्यर्थ प्रयास करते हैं। सच्चे जीवन को प्राप्त करने के लिए अभी हमें कोई परवा नहीं है। उसकी यदि चटपटी लगे तो दूसरे उलटे-सीधे विचार अपनेआप बंद हो जाय। कोई कुदरती रम्य दृश्य देखने में आने पर सहजरूप से उसमें रहे हुए सौंदर्य की कदर करने की और उसका उपभोग करने की रसवृत्ति होती है, इससे उसमें से रस और उसमें से भाव पैदा होते हैं। इससे तब विचार प्रकट नहीं होते हैं; किन्तु ध्यान में या त्राटक में हमें किसी भी प्रकार का रस प्रकट हुआ नहीं है; और वैसा अनुभव न होने से उसमें भाव या रस का सर्जन न हो, इससे एकाग्रता न प्रकट हो वह समझ सकते हैं। हमारे जीवननाव की दिशा बदलने की अत्यंत जरूर है। हमारा जिस ओर मुँह मुड़ा हुआ होता है, उस तरफ का प्रत्यक्ष दिखता है। जहाँ तक जीवनविकास के ध्येय का सतत मननचिंतन एकसा होता नहीं अनुभव होगा, वहाँ तक समझना कि जीवनविकास का ध्येय अभी हमने सच्चे भाव से स्वीकार नहीं किया है। दिन के अन्य समय में अनेक प्रकार के आंतरिक प्रवाहों में और प्रतिदिन के कर्मव्यवहार में मनादिकरण रस लेते होते हैं। इससे फिर ध्यान में एकाग्रता और

केंद्रितता किस प्रकार प्रकट हो सके ? किसी भी विषय का अभ्यास बढ़ते-बढ़ते वह विषय सरल होता है और उसमें रस भी उत्पन्न होता है, उस प्रकार ध्यान का परिश्रमपूर्वक का जागृतिपूर्वक अभ्यास बढ़ते-बढ़ते उसमें निराला आनंद और रस जमता है। जैसे-जैसे प्रतिदिन सर्व प्रकार के कर्मव्यवहार में और करणों के आंतरिक व्यापार में ज्ञानपूर्वक की तटस्थता और समता प्रकट होती जायेगी वैसे-वैसे ध्यान में विचारों के प्रवाहों की बाढ़ कम और कम जोर में होती जायेगी और फिर उसमें एक प्रकार के चेतनमय शून्यत्व का अनुभव जरूर होगा।

अनिमेष देखते रहने से एकाग्रता का सर्जन होता है। उसका अनुभव करने के लिए एक उपाय आजमाकर देखें। आपको जो भी भजन बहुत अच्छा लगता हो और प्रिय लगता हो, वह भजन ऐसे ही भाव से गाना और दूसरी बार वह भजन किसी पर आँख को स्थिर कर के बंद होने दिये बिना भाव से गाना। दोनों वक्त के भाव की गहराई की तुलना करना। जब भाव में बहुत-बहुत एकाग्रता प्रकट होती है, तब आँख अपनेआप स्थिर रहती है। आँख को उस समय स्थिर करनी नहीं पडती है। उसी ही प्रकार जब हमें जीवनसाधना में सचमुच रस पड़ता है और उससे उसमें एकाग्रता होती है, तब साधना नहीं करनी पड़ती है। तब वह तो सहजरूप से होती जाती है।

हमें जो भी वृत्ति उत्पन्न हो, उसमें बह जाने की आदत पड़ी हुई है। कोई आघात हुआ तो उसमें बहकर गमगीनी में डूबे जायेंगे। कोई हर्ष का प्रसंग आया तो उसकी उफान में स्वयं को खो देंगे, किन्तु अब तो वैसा होने पर हमें जाग्रत होना है। संपूर्ण जाग्रत न रह सके तो तो जीवदशा ही रहनेवाली है, वह निश्चित जानना। **''इस'' मार्ग में जागृति की बहुत-बहुत जरूरत है। जो जाग सकता है, वह जी सकता है, बाकी के नहीं।** शुरूआत में साधक को जो आनंद रहता है, वह तो नदी के मूल-उद्गम जैसा है। भरूच के पास इतनी बड़ी हो जानेवाली नर्मदा नदी उसके मूल-उद्गम के पास तो इतनी छोटी और संकरी होती है कि उसे हिरन भी कूद कर जा सकता है। जीवनसाधना भी एक नदी जैसी है। ज्ञानभक्तिपूर्वक का जीवंत अभ्यास बढ़ते-बढ़ते वह बड़ा और चौड़ा होता जाता है और गहरा भी होता जाता है। **जो आनंद हुआ उसका उपयोग साधना के अभ्यास में ज्ञानपूर्वक करते रहने का है। आनंद में बह नहीं जाना है, उसका उपभोग नहीं करना है, किन्तु ध्यान में से प्रकट होते आनंदभाव का उपयोग ज्यादा एकाग्र और केंद्रित होने में करना है।** मन की चालबाजी और दूसरे

आंतरिक प्रवाहों को समता प्रकट-प्रकट कर विकसित कर-कर के देखते रहना है। बाकी ''मन को'' में लिखा है वैसे वह तो-

पल भर में आकाशगंगा पर चढ़ावे,

बहे कभी, तो बुरे हाल होवे।

इसलिए आनंदवृत्ति में मन के साथ बह नहीं जाना है, वह ध्यान में रखना है।

आज तो ध्यान से आनंदवृत्ति है, किन्तु कल कोई दूसरी उससे विरुद्ध ही वृत्ति भी प्रकट हो, ऐसा अनुभव हो। उलटे अनुभव हो, तब कृपा कर के घबराना नहीं। उसे भी एक passing phase मान कर जाते हुए बादलों की तरह जाने देना है, वह जानना। कहीं भी किसी में फँस न जायें और उसकी गहरी छाया हमें घेर न ले उस बाबत में तो सतत जागृत रहना है। **जैसे-तैसे कर के जीवनध्येय के संबंध की भावना प्रतिदिन के कर्मव्यवहार में अटूटपने से बहा करे और आंतरिक करणों के जीवप्रकार के प्रवाह में न बहें और उसमें तटस्थता, समता, शांति, प्रसन्नता प्रकट हुआ करे और वैसा करने के लिए हृदय से जागृतिपूर्वक प्रभुकृपा से प्रयत्न कर सके उसका नाम सच्ची साधना है।** जो-जो कुछ जीवदशा का हो या प्रकट हो, उसका यदि जागृति से उसी पल इनकार हो जाय और यदि उसकी लम्बी परंपरा न चले और मनादिकरण भावना में एकाग्रता से खेलते करते अनुभव हो, तो इनकार हुआ है वैसा सच्ची रीति से मान सकते हैं। कहीं किसी भँवर में मनादिकरण डूबे हुए न रहे या डूब रहे हो उस वक्त जागृति से चेत जाकर और इनकार कर के फिर से स्वस्थ होने की कला प्राप्त हो और ऐसी कला में अटूटता प्रकट हो, उस वक्त से सच्ची साधना की शुरूआत होती है।

('जीवनसंशोधन' पृ. ६०—६४)

अभी हमें दूसरों के अभिप्राय पर देखने का मन रहा करता है। ऐसी वृत्ति हमारे में से जितनी जल्दी चली जाय उतना ज्यादा अच्छा है। ''इस जीव'' ने अभी तक साधना की बाबत में आपको मनपसंद वचन कहे हुए हैं, वह इसलिए कि आपका मानस हिचकोले न खाया करे। हमारे बारे में कोई अच्छा बोले तो वह आपको बहुत पसंद है, किन्तु वैसा स्वभाव योग्य नहीं है। उससे भी हमें मुक्त होना चाहिए, ऐसा सुनने का हमें प्रेमपूर्वक इनकार करना चाहिए। आपकी प्रकृति या स्वभाव का एकदम सामना करने से कुछ भी लाभ नहीं होगा। इसलिए

आपकी प्रकृति या स्वभाव का सामना करने का अभी नहीं रखा है। हमारे से थोड़ासा हुआ हो तो ''उस'' की कृपा से ज्यादा हो सके तो कैसा गजब हो जायेगा ! ऐसा दृढ़ता से मानकर उसी पल ऐसा सब जिसकी मालिकी का हो उसका ही समझ-समझकर समर्पण कर के ज्यादा से ज्यादा ज्ञानपूर्वक संपूर्ण नम्र होने के लिए हृदय के हुलास से तत्पर रहना चाहिए। **नम्रता यानी कायरता नहीं है। सच्ची नम्रता में तो तेजस्विता और शौर्य प्रकट होता है।**

ध्यान में आनेवाले विचारों के उपाय तो बताये ही हैं। बताया है उस अनुसार एकनिष्ठा से संपूर्ण बरताव किये बिना अनुभव तो किस प्रकार प्रकट हो सकेगा ? और बरताव में किसी भी प्रकार की सततता तो प्रकट नहीं होती है, वह सब से बड़ी असल परेशानी है।

अब दूसरी एक बात : जब भी आपको खिन्नता का mood (मनोवृत्ति का आवेशयुक्त आवेग) आवे (ऐसे mood पहले तो कई-कई आते थे और उसकी असर लंबे काल तक टिकती थी, किन्तु अब जब वह प्रकट हो) कि तुरंत आश्रम से दूर जाकर जोर से ''हरि:ॐ'' बोलेंगे या सद्गुरु को हृदय में हृदय से पुकारेंगे तो खिन्नता की वृत्ति कहीं अदृश्य हो जायेगी और फिर आनंद प्रकट होगा।

अभी आपको जप की स्मरणभावना सतत चालू रहती नहीं है और टिकती भी नहीं है। ध्यान में भी धारणा सतत पूरी नहीं रहती है। यह सब लिखकर मुझे आपको निरुत्साह नहीं करना है, किन्तु विशेष जाग्रत करना है। कुछ हो या न हो, किन्तु जो एक बार लिया है, वह अखंडरूप से प्रेमभक्ति के आनंद से चलाया करेंगे। इतने कम समय में भी आपको उसके प्रत्यक्ष परिणाम मिले हैं, उसका आप इनकार कर सको वैसा नहीं है। कइओं को तो कर्म से निराशा में भटकना पड़ता है। और साधना में ऐसा भी वक्त आता है कि जिसमें निराशा का अंत भी नहीं दिखता है। किन्तु हमने जो ध्येय दिल में रखा है, उसमें यदि सच्ची रीति और भाव से जुड़े हुए रह सकेंगे और उसके प्रेमसागर में संपूर्ण रूप से कूद पड़ेंगे और उसमें संपूर्णरूप से फना हो जाकर न्योछावर हो जाकर बलि-बलि जाकर के ''उस'' के चरणकमल में यदि लय होते जायेंगे तो किसी भी प्रकार की शिकायत नहीं रहेगी।

('जीवनसंशोधन' पृ. १२२—१२४)

बालक को देखकर उसके जैसी निर्दोषता जीवन में प्रकट हो, किसी प्रेमी सच्चे हृदय के प्रेमभाववाला देखकर उसके जैसा सचमुच प्रेम प्रभु के संबंध में हमारे जीवन में प्रकट हो, किसी यथार्थ कार्यरत ऐसे जीव को देखें तो उसके जैसी ढब हमारे ध्येय के संबंध में हमारे में प्रकट हो, किसी साधुपुरुष को हम देखें तो उसके जैसी साधना करने की तीव्र तत्परतावाली भावना और शक्ति और वैसा तेज हमारे जीवन में प्रभुकृपा से प्रकट हो, किसी निर्मल भावनावाली बहन या माँ देखें तो उसके जैसी निर्मलता हमारे में प्रकट हो, किसी कुदरती सुंदर दृश्य देखें तो उसके जैसा प्रभु का आविर्भाव हमारे में भी उत्पन्न हो, नदी को देखकर उसके जैसा उत्साह और उन्माद से अविरतरूप से वेग सहित जैसे अपने ध्येय के प्रति आगे बढ़ती रहती है वैसा हमारे अपने जीवन में हो, कोई दो सच्चे मित्र देखकर उनके जैसा मैत्रीभाव, सखाभाव, प्रभु के संबंध में जीवन में जागे—ऐसे-ऐसे अनेक जीवन में मिलते प्रसंग और दृश्य जहाँ-जहाँ दिखे वहाँ-वहाँ वैसा भाव जागृत रखकर, प्रकट कर के हृदय में विकसित कर के, ध्येय का हेतु प्राप्त करने के लिए उस-उस प्रकार की हृदय से प्रार्थना करना वह भी एक बड़ा साधन है। इस प्रकार ''इस जीव'' ने किया हुआ है। इससे आपको ब्योरेवार लिखा है। और आप वह करते रहो, इसलिए भी लिखा है। इस प्रकार के भाव हमें जीवन में सहायक होते है, इसलिए उस प्रकार का ज्ञानात्मक अभ्यास आप जरूर करें।

आप ध्यान में एकाग्र स्थिति, आगे-पीछे का सब भान भूल जाओ ऐसा चाहते हो, सतत प्रेमभक्तिपूर्वक के एकसा जीवंतजाग्रत अभ्यास की अटूटता में से वह स्थिति प्रकट हो सकती है। **सिर्फ अधीर बनने का इसमें काम नहीं है।** अब से ध्यान में ५-६ घंटे एकसाथ कभी बैठना नहीं। **भोजन कर के कभी भी बैठना नहीं।** साधना की ही धुन प्रतिदिन के कर्मव्यवहार में प्रकट रहा करे और वह लक्ष में रहा करे तो वह उत्तम है। ऐसी भाव की सततता प्रतिदिन के कर्म-व्यवहार में जैसे-जैसे जीवंत-जागृत प्रकट रहा करेगी, वैसे-वैसे ध्यान में गहरे उतरते जाओगे ही। ध्यान में गहरे नहीं उतर रहे हो तो उतना वातावरण हमारा कच्चा है। **आप कहोगे कि ''एकाध धक्का मारो न !'' हमारा पूरा हृदय परिवर्तन होगा, तब तो ऐसे धक्के मिला करते हैं, उसका भी ज्ञानात्मक अनुभव होगा। अभी तो ऐसे धक्के भेजे जाते हो और वह वापस आते हो, इससे ऐसा कुछ लिखने का कोई अर्थ नहीं है।**

बालक जब माँ-बाप के पास कुछ माँगता है, हठ करता है, तब माँ-बाप उसे देते हैं जरूर, किन्तु ऐसी हठ कोई रास्ते पर जानेवाला करता है और बालक से भी ज्यादा माथाफोड़ करता हो और उसकी हठ में बालक से भी तीव्रता भी ज्यादा हो फिर भी उसकी हठ पूरी नहीं होती है, क्योंकि बालक और माँ-बाप के बीच जो हृदयभाव का संबंध बँधा हुआ है, वैसा भाव-प्रेमसंबंध उस दूसरे मनुष्य के साथ नहीं बँधा हुआ होता है। उस प्रकार साधना में महत्त्व की हकीकत— साधना का हेतु— ऐसा भावसंबन्ध विकसित कर के प्रकट करने का है। हमारे बीच ऐसा हृदय-हृदय का भावसंबंध विकसित होकर प्रत्यक्ष प्रमाण में जीवित बने और वह हमारे प्रतिदिन के कर्मव्यवहार में प्रकट हुआ करे, तब सच्चा स्पर्श और सत्संग का अनुभव होगा। मेरे अपने सद्गुरु के साथ दिल में दिल से इस प्रकार के भावात्मक सूक्ष्म प्रयोग कर-कर के प्राप्त कर के यह अनुभव जो प्राप्त हुआ है, वह आपको प्रेमभाव से आपके अंत:करण में उतारने के लिए नम्रभाव से लिखता हूँ। प्रत्यक्ष प्रयोग कर के देखने से बिलकुल सच समझ में आयेगा। इसलिए कृपा कर के धैर्यपूर्वक, मेहनत और उत्साह से कर के देखने में हमें लग जाना है।

हम जैसे होंगे, वैसा ''वह'' हमें बनायेगा। बनावट इसमें नहीं है। अर्थात् कि जैसे होंगे और जो भाव प्रकट करें, उस प्रकार दिखनेवाले हैं, यह जाननाजी।

('जीवनसंशोधन' पृ.३७५—३७८)

आपको शरीर में गेस (वायु) होता रहता है। उसके लिए निम्न लिखित प्रयोग कर के देखे। ध्यान में स्थिर होकर बिलकुल सीधे बैठकर नाभि के नीचे के हिस्से के ऊपर और बीच में और थोड़ा ऊपर ऐसे इतने हिस्से पर चित्तवृत्ति पूरी एकाग्र कर के वायु के नाश होने की भावना विकसित करेंगे। या वह वायु आपको अनुकूल हो वैसी भावना करेंगे तो जरूर लाभ होगा। प्रयोग करने से सच्ची समझ प्रकट होती है, किन्तु उसमें एकाग्रतापूर्वक के ध्यान की खास जरूर है।

('जीवनसंशोधन' पृ. २४४)

।। हरि:ॐ ।।